

**TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182865

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—24—4-4-69—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H82-08**
D57A Accession No. **P.G. H279**

Author **दीक्षित , त्रिलोकीनारायण**

Title **आठ स्कांकी 1961**

This book should be returned on or before the date last marked

आठ-एकांकी

(एकांकी की शिल्प विधि की मार्मिक समीक्षा तथा हिन्दी के
सर्वश्रेष्ठ एकांकियों का संग्रह)

सम्पादक

डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित

एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० लिट्०

प्रकाशक

रामनारायणलाल बेनीप्रसाद

प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद-२

मूल्य रु० १.७५

प्रथम संस्करण

सर्व श्री रामनारायणलाल बेनीप्रसाद द्वारा प्रकाशित
तथा श्री पन्ना प्रिटिङ्ग प्रेस, प्रयाग में मुद्रित ।

दो शब्द

आधुनिक हिन्दी साहित्य में एकांकी अभिव्यक्ति का एक अत्यन्त मनोरंजक, कलात्मक तथा शक्तिशाली माध्यम है। इसकी कला और शिल्प पर विस्तार तथा गाम्भीर्य के साथ इस पुस्तक में विवेचना प्रस्तुत की गई है। इस विवेचन को प्रस्तुत करते समय अधिकारी विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुए उनका परीक्षण भी किया गया है।

एकांकी के शिल्प एवं विधान का स्पष्टीकरण करने के लिए पुस्तक के उत्तरार्ध में सुन्दर, प्रतिनिधि तथा कलात्मक एकांकियों का एक संकलन भी है। संकलन में इस बात का ध्यान रखा गया है कि इस संग्रह के द्वारा हिन्दी के प्रतिनिधि एवं सर्वोत्कृष्ट एकांकी नाटक पाठकों के समक्ष आसकें। एकांकी की समस्त शैलियों का परिचय भी इस संग्रह के द्वारा उपलब्ध हो जायगा। इस संग्रह में ऐतिहासिक एकांकी भी है और सामाजिक एकांकी भी संग्रहीत है। इसी प्रकार सुखांत, दुःखांत, हास्य-व्यंग्य, तथा गम्भीर, प्रतीकात्मक तथा पौराणिक हर प्रकार के नाटकों का संग्रह इसमें मिल जायगा। संचयन करते समय हमने यह भी ध्यान रखा है कि एकांकी नाटकों के इस संग्रह से पाठकों को एकांकी की कला का सम्यक् परिचय मिल जाय तथा तरुण लेखक इससे प्रेरणा ग्रहण करके एकांकी रचना के प्रांगण में अग्रसर हो सकें।

आशा है कि हिन्दी के अभिनव एकांकी कलाकारों का पथ इस प्रयास से प्रशस्त हो सकेगा।

समर्पण

उन अभिनेताओं को
जो जीवन के रंगमंच पर संघर्षों से विचलित
हुए बिना अभिनय में
अनुरक्त हैं

अनुक्रम

१—एकांकी कला	डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित	१
२—राजरानी सीता	डा० राम कुमार वर्मा	२६
३—स्त्री का हृदय	श्री उदय शंकर भट्ट	५१
४—कंगाल नहीं	श्री सेठ गोविन्द दास	८१
५—सूखी डाली	श्री उपेन्द्र नाथ अशक	९१
६—भोर का तारा	श्री जगदीश चन्द्र माथुर	१२५
७—अशोक	श्री विष्णु प्रभाकर	१४५
८—बाहर का आदमी	श्री लक्ष्मी नारायण लाल	१६७
९—आवाज का नीलाम	डा० धर्मवीर भारती	१९३



एकांकी-कला

साहित्य जीवन का अत्यधिक परिष्कृत एवं सुसंस्कृत रूप है। साहित्य मानव की चरम उपलब्धि है। साहित्य मानव की चिन्तन एवं सृजनात्मक प्रतिभा का सुन्दर उदाहरण है। आदि कवि की रचना से लेकर आज तक के साहित्यकार की रचना तक, साहित्य समाज की गतिविधि, समाज की वास्तविक स्थिति का द्योतक एवं परिचायक रहा है। आचार्यों ने साहित्य को समाज का दर्पण माना है। समाज के अभ्युत्थान एवं ह्रास के समस्त लक्षण तत्कालीन साहित्य में परिलक्षित होते हैं। विद्वानों का अभिमत है कि साहित्य जीवन की आलोचना है, वह उत्तमोत्तम क्रम विधान है, बौद्धिक मानव की सरल, प्रत्यक्षमूलक एवं रागात्मक अनुभूति है, वह सत्य एवं प्रसन्नता के सम्मिश्रण की कला है जिसमें बुद्धि की सहायता के हेतु कल्पना का प्रयोग किया जाता है। साहित्य शांति के क्षणों में स्मरण की हुई उत्कट एवं उत्कृष्ट भावनाओं का सहजोद्रेक है। युगों से साहित्य को परिभाषा पाश में निबद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है, परन्तु उसे शब्दों के बन्धन में सीमित कर देने की शक्ति एवं सामर्थ्य किसमें है ? साहित्य आज भी वायु के समान स्वच्छन्द एवं मंदाकिनी की भाँति चिरकाल से अबाध गति के साथ अनुभूति की भूमि पर जन कल्याणार्थ प्रवाहित है। साहित्य की सजीव शक्ति नीरस पदार्थों को सरस बनाकर वस्तु के स्वभाव में विशेष परिवर्तन समुपस्थित कर देती है। साहित्य के अनेक रूपों में कविता, नाटक, समालोचना, निबन्ध; उपन्यास, आख्यायिका (या कहानी) जीवनी, संस्मरण, रिपोर्टज एवं पत्र-साहित्य हैं। एकांकी एवं लघुकथा साहित्य वट-वृक्ष के फूलते-फलते हुए नये कोंपल हैं। ये उभय साहित्य के अभिनव अथवा नवीनतम रूप हैं। हिन्दी में साहित्य के इन रूपों का

विकास अभी कुछ समय पूर्व हुआ है। परन्तु इनकी प्रगति बड़ी तीव्र और इनके स्वरूप बड़े सम्मोहक हैं। एकांकी एवं लघु-कथा लघु रचनाएँ हैं। भौतिकता में संलग्न, व्यस्तता के अभिशाप से पीड़ित तथा बहुधा मानव के लिए मनोरंजन का ऐसा साधन चाहिये जो कम से कम समय में लक्ष्य का प्राप्ति करा सके। इस दृष्टि से एकांकी नाटक तथा लघु-कथा सबसे सुन्दर माध्यम हैं। मानव अल्प समय में अपना मनोरंजन इन साहित्यिक कृतियों के द्वारा सरलता के साथ कर सकता है। इस प्रकार साहित्य के इन दो अभिनव रूपों के द्वारा मानवता और साहित्य दोनों की सेवा हो सकती है। इनके माध्यम से जीवन के विविध पक्षों को सफलता पूर्वक मंच और साहित्य के पृष्ठों में व्यक्त किया जा सकता है। एकांकी नाटक अपेक्षाकृत अधिक रोचक है। कारण कि एकांकी नाटक में क्रियाशीलता और कौतूहल, लघुकथा की अपेक्षा अधिक विद्यमान रहता है। घटनाओं का आयोजन भी एकांकी नाटक में अधिक होता है। इसीलिए एकांकी नाटक अधिक रोचक होते हैं। साथ ही इनका मनोवैज्ञानिक आधार भी होता है जो चित्ताकर्षक होता है।

एकांकीकार की प्रेरणा तथा कथावस्तु का निर्वाचन

कलाकार की सबसे महान शक्ति है उसकी प्रेरणा। प्रेरणा के अभाव में कलाकार की न प्रतिभा जाग्रत होती है, न उसकी कल्पना शक्ति ही प्रबुद्ध होती है। कलाकार ही क्यों, संसार के प्रत्येक प्राणी को, प्रत्येक कर्म को सम्पादित करने के लिए प्रेरणा की आवश्यकता होती है। प्रेरणा के अभाव में प्रत्येक कार्य, प्रत्येक कर्तव्य कठिन एवं दुस्साध्य है। कलाकार सर्वाधिक चेतन एवं भावुक प्राणी होता है। अतः उसके लिए प्रेरणा का स्रोत भी सुन्दर, सुसंस्कृत एवं परिष्कृत होता है। सागर की उताल तरंग, पूर्णिमा का राकेश, पद्मानन, हिमाच्छादित उत्तुंग गिर शिखरों से प्रेरणा ग्रहण कर कवि एवं चित्रकार सृजन में अनुरक्त होते हैं। अन्य कलाकारों

की भाँति एकांकीकार को भी प्रेरणा की आवश्यकता होती है। एकांकीकार के प्रेरणा स्रोतों को एक-एक करके परिगणित नहीं किया जा सकता है। इतने विशाल विश्व के प्रांगण में, इतने अनन्त ब्रह्मांड में ऐसे अगणित पदार्थ हैं, प्रसूी हैं जिनसे वह प्रेरणा ग्रहण कर सकता है। एक एकांकीकार की प्रेरणा का सबसे महान स्रोत है—‘मानव’। मानव देखने में जितना साधारण तथा सरल है, उतना ही वह जटिल है। सत्य यह है कि एक-एक मानव कुशल से कुशल मनोवैज्ञानिक के हेतु बड़ी भारी प्रयोगशाला है। उस एक मानव का सही-सही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिए बड़े से बड़े मनोवैज्ञानिक के लिए वर्षों की अवधि अपेक्षित है। एक ही मानव कभी अत्यधिक ईमानदार तो कभी अत्यधिक बेईमान, कभी दयालु तो कभी क्रूर, कभी उदार तो कभी कृपण के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। मानव की यही विचित्रताएँ तथा वैविध्य एकांकीकार को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। इन्हीं तत्वों को लेकर वह प्रभावशाली एवं सजीव एकांकी की रचना करने के लिए अग्रसर होता है। कभी-कभी समाज की कुप्रथाएँ, धर्म की असंगतियाँ, शासन की कुव्यवस्था, व्यक्ति विशेष के परिस्थितिजनित अन्तर्द्वंद्व एवं बहिर्द्वंद्व कर्तव्य की महत्ता, संघर्ष, वैचित्र्य तथा ऐतिहासिक समस्याएँ आदि भी लेखकों को प्रेरणा देने में सफल होती हैं। सच्चा एकांकीकार-जीवन का सूक्ष्म पर्यालोचक होता है। तभी उसकी रचनाओं में मौलिकता के दर्शन होते हैं। हमारे समाज तथा इस विशाल विश्व में अनेकानेक प्रश्न हैं जिनके आधार पर जीवन के मूल रूप को निकट से देखने एवं अध्ययन करने की बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होती है। मानव-जीवन के चारों ओर घटनाओं का अविराम प्रवाह रहता है, और इसी में प्राणों के तत्वों का रोचक तथा रहस्यमय संकेत रहता है। एकांकीकार इन्हें देखकर, इनका मूल्यांकन करके उन्हें प्रभावशाली एवं मनोवैज्ञानिक शैली में प्रस्तुत अथवा अभिव्यक्त करता है। एकांकीकार की कला की

निपुणता इस बात में है कि वह घटनाओं को अधिक से अधिक घनीभूत करके उन्हें कार्य-कारण की मनोरंजक शृंखला में निबद्ध कर दे। यहाँ पर यह उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि कार्य कारण ही सुसम्बद्धता एकांकीकार की प्रतिभा की अपेक्षा रखती है। जिस कलाकार या एकांकीकार में जितनी ही अधिक प्रतिभा होगी वह उतनी ही कौतूहलपूर्ण एवं स्वाभाविक कथा-वस्तु को जन्म दे सकेगा। प्रतिभा से सम्पन्न एकांकीकार को जीवन के अनुभवों से बाहर जा कर कल्पना लोक में अधिक भटकने की आवश्यकता नहीं है।

कुशल एकांकीकार साहित्य की अपेक्षा जीवन का अध्ययन करता है तभी उसमें हमें मौलिकता के दर्शन हो सकते हैं। एकांकीकार जितना अधिक जीवन के निकट जायगा उतना ही अधिक वह जीवन के संघर्षों से परिचित होगा। यह सर्वविद् है कि नाटक का प्राण उसके संघर्षों में परिपोषित होता है। एकांकीकार की विवेचन शक्ति में जितना ही अधिक संघर्ष स्थान पायेगा उतना ही कौतूहल-प्रधान तथा जिज्ञासामय होगी— उसकी रचना अर्थात् एकांकी। कुशल एकांकीकार सदैव उन परिस्थितियों को देखने के लिए लालायित रहता है जिनमें उसे विरोध की तेजस्वी शक्तियाँ विद्यमान मिलती हैं।

आवश्यक तत्व—कहानी, उपन्यास, और नाटक की भाँति एकांकी के भी कुछ आवश्यक तत्व होते हैं। डा० रामकृमार वर्मा के अनुसार एकांकी के निम्नलिखित आवश्यक तत्व हैं :—

(१) एकांकी में एक ही घटना होती है।

(२) वह घटना कौतूहल संचय करती हुई चरम सीमा पर पहुँचती है।

(३) उसमें अप्रधान प्रसंगों के लिये स्थान नहीं है।

(४) पात्र सीमित तथा कथा से सुसम्बद्ध होते हैं।

(५) विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प को भाँति विकसित होती है ।

(६) घटनाओं में अनुपात अनिवार्य है ।

(७) अन्तर्द्वंद्व भी आवश्यक है ।

(८) एकांकी में कौतूहल अनिवार्य है ।

(९) चरम सीमा के अनन्तर एकांकी का अंत हो जाना चाहिये ।

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने निम्नलिखित तत्वों पर जोर दिये हैं :—

(१) सुशिक्षित एवं सुकल्पित एक ही लक्ष्य ।

(२) परिस्थिति या समस्या के रूप में एक ही घटना ।

(३) वेग-सम्पन्न प्रवाह ।

(४) निदर्शन में चातुर्य एवं मितव्ययिता ।

श्री अमर नाथ गुप्त के मतानुसार एकांकी नाटक के निम्नलिखित आवश्यक तत्व हैं :—

(१) एकांकी का विषय केवल एक होता है ।

(२) उसकी गति अत्यन्त तीव्र होती है । प्रारम्भ होकर वह अंत की ओर तीव्रता के साथ अग्रसर होती है ।

(३) एकांकी की समाप्ति एक बैठक में अनिवार्य है ।

(४) एकांकी का अंत आकस्मिक होता है ।

(५) एकांकी का क्षेत्र संकुचित होता है अतः सहायक घटनाओं की योजना कभी-कभी ही होती है ।

(६) एकांकी की कथा-वस्तु सरल-सहज तथा स्वाभाविक हो ।

(७) ऐक्य एकांकी की बड़ी भारी आवश्यकता है ।

(८) यह आवश्यक नहीं कि एकांकी छोटा ही हो ।

(९) विषय तथा समय की अल्पता का एकांकी में सदैव ध्यान रखना चाहिये ।

इस लोम्ब ने एकांकी के निम्नलिखित आवश्यक तत्वों के उल्लेख किये हैं :—

(१) अनिवार्य एकता ।

(२) अनिवार्य एकाग्रता ।

(३) अनिवार्य आकस्मिकता ।

(४) अनिवार्य प्रभाव एवं वस्तु का ऐक्य ।

(५) स्थान एवं काल की अनिवार्य एकता ।

(६) एक अंक ।

(७) विस्तार सीमा के अन्तर्गत ।

(८) जीवन के एक पक्ष, एक महत्वपूर्ण घटना और एक परिस्थिति का चित्रण हो ।

अब हम एकांकी के एक-एक आवश्यक तत्व पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करेंगे :—

एकांकी नाटक की कथा और जीवन—नाटक अथवा एकांकी जीवन की अनुकृति है । नाटक की परिभाषा निर्धारित करते हुए कहा गया है कि “अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्” अर्थात् अवस्था के अनुकरण को नाटक कहते हैं । वास्तव में नाटक या एकांकी जीवन की नकल है । अतः यह आवश्यक है कि एकांकी उतना ही स्वाभाविकता से पूर्ण हो जितना मानव स्वाभाविकता से परिपूर्ण होता है । एकांकी को मानव जीवन का यथातथ्य चित्र होना चाहिए । प्रश्न यह है कि एकांकीकार अपनी रचना में जीवन की नग्न परिस्थितियों को कला एवं कल्पना से समलंकृत करके व्यक्त करे अथवा मानव जीवन के मौलिक, विकृत एवं विरूप-स्वरूप को यथातथ्य घटनाओं से ग्रहण करके रंगमंच पर उपस्थित कर दे । रूस देश के कलाकारों की परम्परा तो जीवन को उसके नग्न एवं स्वाभाविक रूप में व्यक्त कर देने की रही है । मैक्सिम गोर्की के नाटकों में जीवन ही

साहित्य एवं कला माना गया है। गोर्की ने समाज के निम्न स्तर के जीवन को कला का विषय बनाया है। उसके नाटकों में कथानु-वस्तु बहुत गल्प किन्तु चरित्र अत्यधिक आवेगपूर्ण तथा शक्तिसम्पन्न हैं। उसके नाटकों के घटना—विधान में नाटकीय कौशल नहीं है परन्तु जीवन की स्वाभाविकता का परिचय प्रत्येक कदम पर दिलाते हैं। साहित्य संसार, चेखाव के नाम से परिचित होगा। चेखाव ने भी नाटकीय कौशल में व्यंजना को ही प्रधानता प्रदान की है। उसके नाटकों में सम्पूर्ण कार्य विन्यास अत्यन्त स्वाभाविक तथा जीवन के अनुरूप ही हैं। इन विद्वान कलाकारों ने कला का उतना ध्यान नहीं रखा जितना कि स्वाभाविकता तथा मनो-वैज्ञानिकता का ध्यान रखा है। इसी प्रकार टाल्सटाय ने भी स्वाभाविकता का ध्यान रख कर चित्रण किया है। अन्त में जाकर टाल्सटाय की कला में वास्तविकता और आदर्श का समन्वय उपलब्ध होने लगा।

हिन्दी के कलाकार रूसी विद्वानों के यथार्थ चित्रण तथा स्वाभाविक कला से बहुत प्रभावित हुए। आज हमारे नाटककार यथार्थ, वास्तविकता, स्वाभाविकता तथा सहजता की ओर बहुत उन्मुख हैं। इसीलिए हिन्दी के कलाकार वस्तु-विन्यास एवं अभिनयात्मक सौन्दर्य के रमणीय मार्ग से विलग होते जा रहे हैं। रूसी कलाकारों के आदर्शों एवं प्रगतिशील दिशा-धारा ने हमारे साहित्यकारों को बहुत अंशों में प्रभावित किया है। जीवन की वास्तविकता साहित्य की आधार-शिला होनी चाहिए। कलाकारों को चाहिए कि जीवन की वास्तविकता का साहित्य में चित्रण करते समय उसमें कलात्मकता का भी संचार करें। इस प्रयास से जीवन (चाहे वह जितना कुरूप क्यों न हो) आकर्षक प्रतीत होने लगेगा। एकांकीकार को चाहिए कि उन्हीं घटनाओं को अभिव्यक्त करे जो पाठकों या दर्शकों के हृदय की सहानुभूति अर्जित कर सके या उनकी रागात्मक प्रवृत्ति में चेतना का संचार कर सके। यदि कलाकार को साधारण घटनाओं की ही आवृत्तियाँ करनी हैं तो हम उसे देखने की चेष्टा ही क्यों

करें ? हमारा जीवन ही हमारे लिए कौन कम है । जीवन अपने अभिराम रूप में चिरकाल से प्रवाहित है । कलाकार प्रतिभा एवं कल्पना के आधार पर खोई हुई शृंखला को जोड़ देते हैं । जैसे चतुर माली एक-एक पुष्प चुनकर सुरम्य गुलदस्ते का निर्माण करता है उसी प्रकार कुशल एकांकीकार जीवनोद्यान से घटनाएं चुनकर उत्तमोत्तम क्रम विधान में सजा देते हैं । इस सजावट के क्रम में कला स्वतः समाविष्ट हो जाती है । इब्सन का मत है कि कला सदैव यथार्थ की अनुगामिनी है । नाटक के लिए “परियों के देश की कल्पनाओं” की अपेक्षा वास्तविकता अधिक उपयोगी है । यथार्थवाद सदैव अभिनन्दनीय और वाँछनीय है ।

संक्षेप में एकांकीकार को जीवन के मार्मिक तत्वों, मार्मिक घटनाओं और मार्मिक प्रसंगों को अपनी कला का विषय बनाना चाहिए । एकांकी का आधार सत्य तथा यथार्थ होना चाहिए । इस सत्य एवं यथार्थ में यदि कला का सम्मिश्रण हो तो “सोने में सुहागा” की कहावत चरितार्थ होगी । मानवजीवन कलाकारों की प्रेरणा का महान स्रोत है ।

कथानक के विषय-वस्तु पर विचार कर लेने के अनन्तर अब उसके रूप एवं आकार पर ध्यान दीजिए । एकांकी के आकार में लघुता होने के कारण इसमें कथानक का विस्तार भी सीमित एवं अल्प रहता है । एकांकी नाटक में प्रत्येक घटना की योजना निश्चित लक्ष्य से की जाती है और कथानक उसी लक्ष्य की ओर प्रतिक्षण अग्रसर रहता है । एकांकी का एक ही कथानक होता है । इसमें गौण तथा सहायक कथानकों के लिए अवकाश नहीं होता है । एकांकी में कथानक बड़ी तीव्रता के साथ चरम-सीमा की ओर अग्रसर होता है । एक बार चरम-सीमा पर पहुँच जाने के अनन्तर कथानक का अन्त-सा हो जाता है । ज्योंही समस्या का सुलभाव उपस्थित हो जाता है, त्योंही नाटक में अन्त समुपस्थित हो जाता है ।

एकांकी का कथानक संघर्ष प्रधान होना चाहिए । संघर्ष के अभाव में कौतूहल का सर्जन नहीं होता है । कौतूहल के अभाव में नाटक निर्जीव,

निष्प्राण और शक्तिरहित हो जाता है। अतः एकांकीकार के लिए यह आवश्यक तथा उपयोगी है कि वह संघर्ष-संयुक्त, कोतूहल-प्रधान कथानक की सृष्टि करे। संघर्ष परिस्थितियों, समस्याओं, पात्रों तथा मानसिक द्वन्द्व के माध्यम से उत्पन्न किया जा सकता है।

एकांकी का कथानक नाटक या उपन्यास की कथावस्तु के समान विस्तृत तथा व्यापक नहीं होता है। कहानी के कथानक के समान एकांकी का कथानक भी संक्षिप्त, संकुचित एवं तीव्र होता है। गीत-काव्य के सदृश एकांकी में एक ही भाव की प्रधानता होती है। एकांकीकार का ध्यान एक ही बिन्दु पर केन्द्रित रहता है।

एकांकी के कथानक में निम्नलिखित विशेषताएँ होनी चाहिए :—

(१) एकांकी का कथानक सुन्दर होना चाहिए। पाठक और दर्शक को वह तुरन्त अपनी ओर आकर्षित कर ले। उसका सम्मोहक होना नितान्त आवश्यक है।

(२) एकांकी का कथानक सुसंगठित होना चाहिए।

(३) एकांकी का कथानक मनोवैज्ञानिक होना चाहिए। तभी कथावस्तु प्रभावशाली बनेगी।

(४) एकांकी का कथानक स्वाभाविक, सहज तथा सरल होना चाहिए।

(५) एकांकी के कथानक में असम्भव घटनाओं एवं असम्भव पात्रों का समावेश नहीं करना चाहिए। भूत-प्रेतात्माओं का रंगमंच पर अवतरण दुर्बल ही नहीं असम्भव भी है। अतः ऐसे आयोजन नहीं करने चाहिए।

(६) एकांकी का कथानक यथार्थ होना चाहिए।

(७) एकांकी के कथानक को असम्बन्धित तथ्यों के बोझ से नहीं लादना चाहिए।

इन सब बातों पर ध्यान रखने से एकांकी का कथानक आकर्षक तथा अभिजातकाली बन जायगा ।

पात्र—एकांकी नाटक में पात्रों का प्रमुख स्थान रहता है । एकांकी समय, परिस्थितियों तथा चित्रण की दृष्टि से एक लघु रचना है अतः इसके अन्तर्गत केवल उन्हीं पात्रों का समावेश होना चाहिए जो सीधे तौर पर एकांकी कथा-वस्तु से सम्बन्धित हों । एकांकीकार के लिए यह अपेक्षित है कि वह केवल कुछ ही पात्रों के माध्यम से कथा-वस्तु को अंकित करे । एकांकी में पात्रों की संख्या चार-पाँच से अधिक नहीं होनी चाहिए । इन चार-पाँच पात्रों का सम्बन्ध घटना से सम्पूर्णतया होना चाहिए । एकांकी के प्रत्येक पात्र की रूप-रेखा सुस्पष्ट तथा मनोवैज्ञानिक होनी चाहिए । एकांकी के नायक का विधान तो होता ही है, साथ ही प्रतिनायक का आयोजन भी होता है । प्रतिनायक की आयोजना कथा-वस्तु पर निर्भर होती है । बाह्य संघर्ष-प्रधान एकांकी नाटक में प्रतिनायक का सर्जन अनिवार्य हो जाता है जहाँ प्रतिनायक की आवश्यकता नहीं होती है, वहाँ पर गौण पात्रों का समावेश होता है । इस प्रकार पात्रों की दृष्टि से हिन्दी एकांकी नाटकों के तीन भेद सम्भव हैं :—

(१) वे एकांकी जिनमें नायक एवं प्रतिनायक दोनों का विधान होता है ।

(२) वे एकांकी नाटक जिनमें नायक तथा गौण पात्रों का विधान एक साथ होता है ।

(३) वे नाटक जिनमें नायक, प्रतिनायक एवं गौण पात्रों का विधान एक साथ होता है ।

एकांकी नाटक में पात्र चार प्रकार से कथा के विकास में सहयोग प्रदान करते हैं । ये पृष्ठ ११ पर दिये गये चार प्रकार के कार्य सम्पादित करते हुए रंगमंच पर आते हैं ।

(क) उत्तेजक

(ख) माध्यम

(ग) सूचक तथा

(घ) प्रभाव-व्यञ्जक

वे गौण पात्र जिनके माध्यम से कथा के विकास को उत्तेजना प्राप्त होती है उत्तेजक कहे जाते हैं। वे गौण पात्र जो नायक के भावों को प्रकट करते हैं, माध्यम कहे जाते हैं। माध्यम पात्र नायक का आत्मीय व्यक्ति होता है। सूचक पात्र वह है जो कथा-वस्तु को स्पष्ट करने में सहायता प्रस्तुत करता रहता है। प्रभाव-व्यञ्जक पात्र वे हैं जो नाटक में रहस्य संकेत, इंगित या भूमिका के रूप में उपस्थित रहते हैं।

पात्रों की रचना करते समय एकांकीकार को चार बातों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए :—

१—पात्र इसी संसार के हों। कल्पना के आधार पर विरचित ऐसे न हों जिनसे हमारे पाठक परिचित न हों। आत्माओं के प्रतीक पात्रों की योजना नाटक में नहीं करनी चाहिए।

२—पात्र इतने स्वाभाविक हों कि जनता को आकर्षित करने की क्षमता से सम्पन्न हों।

३—पाठकों का सर्जन मनोवैज्ञानिक आधार पर हो।

४—अधिक पात्रों का समावेश न हो।

कथोपकथन—एकांकी नाटक के हेतु कथोपकथन अनिवार्य तत्त्व है। कथोपकथन विचारों की अभिव्यक्ति का बहुमूल्य साधन तथा चरित्र-चित्रण के लिए अत्यधिक आवश्यक तत्व है। कथोपकथन घटनाओं की गतिशील बनाने में सहायक होता है। कथोपकथन वह माध्यम है जिसके द्वारा नाटकीय पात्र अपने विचारों, अनुभूति तथा स्वभावगत विशेषताओं को व्यक्त करते हैं। सुन्दर तथा आकर्षक संवाद या कथोपकथन एकांकी

नाटक वे बहुत से अभावों को दूर कर देता है । पाठक या दर्शक सम्वादों के चमत्कार से पात्रों के भावों के साथ में साधारणीकरण स्थापित कर लेता है ।

एकांकी में कथोपकथन का इतना बड़ा महत्त्व देखकर यह कहना ही पड़ता है कि कथोपकथन एकांकी के लिए अनिवार्य हैं । एकांकी में कथोपकथन सुसंगठित, ललित, आकर्षक, पात्रानुकूल तथा प्रभावशाली होना चाहिये । साथ ही यह भी आवश्यक है कि संवाद सजीव तथा मनो-वैज्ञानिक हों । पात्र परस्पर जो वार्तालाप करें वह “रस्म अदायगी” या कर्तव्य का निर्वाह न प्रतीत हो वरन् उनकी अभिव्यक्ति में हृदय की भावना प्रतिबिम्बित हो और उनसे उल्लास, यथार्थता तथा सजीवता स्वतः भांकती हुई प्रतीत हो । एकांकी के सम्वाद घरेलू तथा असाहिष्णिक न हों । सत्य यह है कि वे ही कथोपकथन हमारे हृदय का स्पर्श कर पाते हैं जो चुटोले तथा चमत्कारपूर्ण हों । सम्वाद एकांकी की कथा का सूत्र बढ़ाने में भी सहायक सिद्ध होते हैं । वाल्टर रिचार्ड एटन का कथन है कि एकांकीकार को अपनी कथा-वस्तु के अनुकूल ही सम्वाद की रचना करनी चाहिए । कथोपकथन को प्रभावशाली बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें एक भी अनावश्यक शब्द न विद्यमान हों और कथोपकथन का प्रत्येक शब्द कथा के विकास में सहायक हो । पात्रों को अपनी भाषा में अत्यन्त स्वाभाविक रीति से बोलना चाहिए ।

कथोपकथन की रचना करते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए :—

(क) एकांकी में कथोपकथन अत्यन्त संक्षिप्त हो । उनमें अनावश्यक शब्दों और वाक्यों की भरमार न हो । एकांकी संक्षिप्त रचना है । इस सीमित अवधि में व्यर्थ की वाक्यावली अनावश्यक है । अनावश्यक शब्दावली से न दर्शक प्रभावित होंगे न नाटककार के लक्ष्य की पूर्ति सम्भावित है ।

- (ख) कथोपकथन मर्मस्पर्शी एवं वैदग्ध्यपूर्ण होना चाहिये । सामान्य जीवन में वैदग्ध्य बड़ा भारी गुण माना जाता है परन्तु नाटक में इसकी और भी अपेक्षा रहती है । वैदग्ध्य के कारण ही वार्तालाप में सजीवता का संचार हो जाता है ।
- (ग) कथोपकथन में चरित्र की चारित्रिकता प्रतिबिम्बित हो ।
- (घ) कथोपकथन एकांकी के कथा-सूत्र को विकास देने तथा अग्रसर करने में सहायक हो ।
- (ङ) कथोपकथन निम्नकोटि के वाद-विवाद या बहस के रूप को न ग्रहण करने पाये । लेखक को यदि वाद-विवाद और कलह का दृश्य ही दिखाना है तो वह भी कलात्मक शैली में सम्पन्न होना चाहिए ।
- (च) कथोपकथनों में पात्र उपदेश का स्वांग भरने की चेष्टा न करें । एकांकी नाटक के सम्वाद संक्षिप्त तथा सरल होने चाहिए ।
- (छ) स्वगत से एकांकी को दूर रखना चाहिए । 'स्वगत' का आयोजन न हो यही अच्छा है । 'स्वगत' आज की जनता के लिये असत्य, अनावश्यक तथा अवांछनीय है ।
- (ज) कथोपकथन सरल तथा स्पष्ट होना चाहिए । रहस्यपूर्ण, संकेतात्मक तथा भावुकता से ओत-प्रोत कथोपकथन इसकी अनुभूति में बाधक होते हैं ।
- (झ) कथोपकथन पात्रों के भावों को स्पष्ट करने की क्षमता से सम्पन्न हों । आलोचकों ने सम्वादों के निम्नलिखित ५ प्रकारों का उल्लेख किया है :—

(१) चरित्र प्रकाशक

(४) अलंकृत तथा

(२) भावानुरूप सम्वाद

(५) व्यावहारिक

(३) भावात्मक

संकलन-त्रय — संकलनत्रय को अंग्रेजी में "थ्री यूनिटीज" कहा गया है । संकलनत्रय का अर्थ है कार्य, काल एवं स्थान की इकाई का ।

संकलन । एकांकीकार को कार्य, काल तथा स्थान की इकाई पर विशेष ध्यान रखना चाहिए । घटनाओं के घटित होने तथा पात्रों के चरित्र प्रदर्शन में अधिक अन्तर अनपेक्षित है । नाटक में यदि इस तत्त्व पर ध्यान न दिया गया तो वह प्रभावविहीन तथा असंगत रचना होगी । इन तीनों इकाइयों के संकलन से ही रचना रोचक , तर्कसम्मत तथा आकर्षक बन सकती है । अब एक-एक इकाई को लेकर विचार कर ले । एकांकी में यदि कार्य की एकता न होगी तो वह रचना कौतूहल मात्र रह जायगी । एकांकी में पात्र के एक ही कृत्य को प्रस्तुत करना चाहिए । इसी प्रकार काल की इकाई है । घटना के घटित होने अथवा पात्रों के चरित्र-प्रदर्शन में अधिक अन्तर अपेक्षित नहीं है । यदि किसी पात्र विशेष के चरित्र का उद्घाटन करना है तो उसका विकास या प्रदर्शन कुछ घंटों की सीमा में ही कर देना चाहिए । उस पात्र के चरित्र का उद्घाटन करने के लिए यदि हमने वर्षों का समय लिया तो कला एवं नाटकीय सुभीते—दोनों दृष्टियों से रसानुभूति में बाधक होगा । अब स्थान की इकाई को लीजिए । इस ओर एकांकी लेखक को विशेष ध्यान रखना चाहिए । एकांकी में घटनाओं का प्रदर्शन एक सीमित क्षेत्र में करना चाहिए । नाटक में यदि एक दृश्य लखनऊ के कैसरबाग का है, दूसरा नैपाल की चढ़ाई का और तीसरा नई-दिल्ली के कनाट-प्लेस का, तो एकांकीकार के लिए इनका प्रदर्शन दुरुह हो जायगा । अतः एकांकी में चमत्कार सुरक्षित रखने के लिए तीनों इकाइयों को ओर ध्यान रखना आवश्यक है ।

संकलन-त्रय के सम्बन्ध में आलोचकों में भारी मतभेद है । सेठ गोविन्द दास संकलन-द्वय (समय एवं कार्य) के समर्थक हैं । डा० नगेन्द्र संकलन-त्रय को अनिवार्य नहीं मानते हैं । यहाँ तक कि वे काल तथा स्थल की एकता को भी नहीं स्वीकार करते हैं । डा० रामकुमार वर्मा संकलन-त्रय को आवश्यक मानते हैं । पाश्चात्य विचारक अरिस्टाटिल ने 'काल' तथा 'कृत्य' का संकलन आवश्यक माना है ।

संकलन-त्रय एक रहस्यमय षहेली है । इसका रहस्य भेद बड़ा दुस्त है । डा० सत्येन्द्र ने कहा है, “कलाकारों के कौशल ने इन विभिन्नताओं अथवा कमजोरियों को ऐसा ढबा दिया है कि नाटक की सफलता में वे बाधा नहीं पहुँचाते हैं ।”

रंग संकेत—प्राचीन भारतीय नाट्य शास्त्र में रंग संकेतों का उल्लेख नहीं हुआ है । हिन्दी में रंग संकेतों का विकास अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से हुआ है । इस दिशा में बंगला के नाटककारों ने भी हिन्दी के विद्वानों को बहुत कुछ प्रभावित किया है । अंग्रेजी साहित्य में नाट्य संकेतों की उत्पत्ति एवं विकास के कारणों का उल्लेख करते हुए श्री अमरनाथ गुप्त ने लिखा है कि “पाश्चात्य साहित्य में इसका अधिकाधिक अंश में उपयोग कई कारणों से हुआ । उनके प्रयोग ने (यह सर्वसम्मत है) नाटक को सर्वप्रिय बना दिया है । आधुनिक नाटककार को दो प्रकार के प्रेक्षकों का सामना करना पड़ता है । एक तो वे जो मनोरंजनार्थ थियेटर में जाते हैं और दूसरे वे जो उपन्यास और कविता के प्रेमी हैं, अभिनय रंग-मंच और नाटक से उनका कोई प्रयोजन नहीं है । १९वीं तथा २०वीं शताब्दियों में उपन्यासकार ने पाठक के हृदय में जगह कर ली है । इस सर्वप्रियता के कारण नाटक की ओर लोगों का ध्यान कम हो गया है । उसी की पूर्ति के लिए और जनता की उपन्यास-साहित्य से अभिरुचि दूसरी ओर मोड़ने के लिए ही नाटककार ने इसका प्रयोग किया । अपने उद्देश्य में वे बहुत कुछ सफल भी हुए क्योंकि उन्हीं लम्बे-लम्बे तथा व्यापक संकेतों द्वारा नाटक में भी उन्हें औपन्यासिक इतिवृत्त-रूपक शैली का मजा-सा आ जाता है ।”

नाटकीय संकेतों का जन्म एवं विकास अभिनेताओं तथा दिग्दर्शकों की सरलता तथा उनके पथ-पर्दर्शन के हेतु हुआ । सच यह है कि रंग संकेतों के द्वारा नाटककार के उद्देश्य बहुत अंश में स्पष्ट हो जाते हैं । इनके

द्वारा दिग्दर्शकों को यह भी ज्ञान हो जाता है कि कहाँ किस सामान की आवश्यकता है। वेशभूषा से लेकर हाव-भाव तक के विषय में दिग्दर्शक को सूचना और संकेत इन्हीं रंग संकेतों द्वारा मिल जाते हैं।

रंग (नाटकीय) संकेतों की रचना अनेक लक्ष्यों से प्रेरित होकर की जाती है :—

(१) उनकी रचना रंगभूमि की व्यवस्था के लिये होती है।

(२) रंग संकेतों की व्यवस्था बहुत कुछ अनकही तथा अलिखित बातों को स्पष्ट कर देती है। इनके द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि पात्र किस श्रेणी का है। उनका रहन-सहन किस प्रकार का है।

(३) रंग संकेतों की रचना का तृतीय लक्ष्य है अभिनय में सहायता करना, नाटककार बीच-बीच में पात्रों के हाव-भाव वेशभूषा, उठने-बैठने, चलने की रीति आदि का उल्लेख कर देता है। उदाहरणार्थ लापरवाही से, घबड़ाकर, एकाएक उठकर, दौड़ कर, उदास मुद्रा में। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पात्र किस मुद्रा में है और मानसिक स्थिति तथा दशा क्या है। पात्र इन्हीं संकेतों के अनुसार अभिनय कर सकते हैं।

(४) रंग संकेतों से नाटककारों की मनोवैज्ञानिकता तथा मानवीय भावों को परखने का ज्ञान भी स्पष्ट होता है।

(५) नाटकीय संकेतों की रचना पात्रों की रूप-कल्पना में सहायता पहुँचाने के लिए होती है।

(६) रंग संकेतों का षष्ठ उद्देश्य है कथावस्तु के दुरुह एवं विस्तृत स्थलों को स्पष्ट एवं संक्षिप्त रूप में चित्रित करना।

(७) रंग संकेतों का सप्तम लक्ष्य है कथावस्तु के उन तत्वों को अभिव्यक्त करना जिनकी अभिव्यक्ति न कथोपकथन द्वारा हो सकती है न अन्य किसी नाटकीय प्रयत्न के द्वारा।

(८) पात्रों के भावों की प्रेषणीयता एवं अर्थ ग्राह्य बनाने के हेतु भी इन नाटकीय संकेतों की रचना होती है।

एकांकी नाटक में संघर्ष और द्वंद्व—नाटक के प्राण संघर्षों एवं द्वंद्व में निवास करते हैं। अत्युक्ति न होगी यदि कहा जाय कि संघर्ष, द्वंद्व तथा कौतूहल ही नाटक की सजीवता के मुख्याधार हैं। दो विरोधी भावनाओं का संघर्ष अन्तर्द्वंद्व है और दो विरोधी परिस्थितियों का संघर्ष बाह्य द्वंद्व या वहिर्द्वंद्व है। इन दोनों प्रकार के द्वंद्वों से नाटक की कथा-वस्तु तथा परिस्थितियों में आकर्षण समुत्पन्न होता है। यह संघर्ष जितना अधिक नाटककार की विवेचन शक्ति में होगा, उतना ही जिज्ञासामय उसका नाटक होगा। इसलिए नाटककार सदैव ऐसी स्थितियों की खोज में रहते हैं, जिसमें उसे विरोध की तेजस्वी शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं।

नाटक रचने के पहले एकांकीकार के हृदय में एक विप्लव रहता है। एकांकीकार इस विप्लव को स्वानुभूति से उत्तेजित कर देता है और अन्ततोगत्वा उसे एक ज्वालामुखी का स्वरूप प्रदान करके नाटक में व्यक्त कर देते हैं। इससे न जाने व्यक्ति और समाज की कितनी भाव परम्पराएँ ध्वस्त हो जाती हैं। जीवन, समाज तथा परिवार के संघर्षों तथा द्वंद्वों को मंच पर उपस्थित करके एकांकीकार अपनी वास्तविक स्थिति से परिचय कराते हैं।

हृदय के रहस्यों को प्रकाशित करने के लिए आन्तरिक संघर्षों को मंच पर प्रकट करना नितांत आवश्यक है। बाह्य संघर्ष में शारीरिक शक्ति के प्रदर्शन तथा द्वंद्व की प्रधानता होती है। इससे रोचक परिस्थितियों की सृष्टि मंच पर हो जाती है। परन्तु नाट्यकला की दृष्टि से आभ्यान्तरिक संघर्ष या द्वंद्व का महत्त्व जीवन में अधिक है। दुःखांत नाटकों में आभ्यान्तरिक संघर्ष और भी कलात्मक, सम्मोहक तथा स्पष्ट होकर सामाजिकों को प्रभावित करते हैं। अतएव यह निश्चित है कि आन्तरिक संघर्ष या अन्तर्द्वंद्व नाटक की सबसे बड़ी विशेषता है। नाट्यकला की दृष्टि से अन्तर्द्वंद्व का विशेष महत्त्व है। नाटक की कथावस्तु जैसे-जैसे

चरम सीमा की ओर तीव्र गति से अग्रसर होती है वैसे ही वैसे अन्तर्द्वन्द्व क्रमशः बढ़ता और स्पष्ट होता जाता है। अन्तर्द्वन्द्व समाप्त हो जाने के अनन्तर लेखक के पास कुछ भी कहने के लिए शेष नहीं रह जाता है। पाठक और दर्शक समान रूप से यह अनुभव करने लगते हैं, कि नाटक की घटनाएँ सहसा समाप्त हो गईं और वे उसी प्रकार से अन्तर्निहित हो गई हैं यथा बादलों के मध्य से दामिनी। एकांकी के पात्र अपने अन्तर्द्वन्द्वों के मध्य हमारे हृदय पटल पर सहानुभूति की अमिट रेखा छोड़ जाते हैं। प्रायः वे जीवन के वाह्य और सामयिक द्वन्द्वों की अपेक्षा मानव हृदय के शाश्वत प्रश्नों की ओर इंगित करते हैं।

उच्चकोटि के कलाकारों, परिष्कृत अभिरुचिवाले व्यक्तियों एवं सफल नाटककारों को वाह्य संघर्ष प्रिय नहीं होते हैं। वाह्य संघर्षों से नाटक के मंच पर जीवन नहीं अवतरित होता है। एकांकीकार के लिए यह अपेक्षित है कि नाटक में अन्तर्द्वन्द्व से इस अभाव की पूर्ति करे।

एकांकी में कौतूहल—कौतूहल का साहित्य ही नहीं वरन् जीवन के लिए विशेष महत्त्व है। कौतूहलविहीन जीवन या साहित्य निष्प्राण तथा आकर्षण विहीन होता है। उपन्यास, कहानी, नाटक तथा एकांकी में कौतूहल की उपलब्धि पग-पग पर होना चाहिये। नाटक तथा एकांकी के प्राण घटनाओं तथा तज्जनित कौतूहल में रमते हैं। कौतूहल से हमारा अभिप्राय है किसी बात या वस्तु के सुनने या देखने की अभिलाषा, आश्चर्य, अचम्भा तथा विनोदपूर्ण उत्कण्ठा। अंग्रेजी 'सस्पेन्स' कहा गया है। यह एकांकी के शीर्षक, कथोपकथन, कथानक तथा अंत की सफलता की कसौटी है। अतः यथा वायु एवं प्रकाश हमारे जीवन के लिये अनिवार्य तत्त्व हैं उसी प्रकार कौतूहल साहित्य के उपयुक्त अंगों के लिये आवश्यक है। कौतूहल लेखक व कलाकार की कुशलता का तथा पाठकों एवं दर्शकों की चित्तवृत्ति का केन्द्रबिन्दु है।

एकांकी नाटक तथा बड़े नाटकों में कौतूहल की रचना बड़ी तीव्रता तथा शोघ्रता के साथ करना चाहिये । एकांकी तथा नाटकों में कौतूहल की रचना, वेशभूषा, मुखमुद्रा, कथोपकथन, घटना तथा चरित्र के द्वारा सम्पन्न होती है । एकांकी में कौतूहल की रचना करने के हेतु सहायक या गौण पात्रों का समावेश करना पड़ता है । परन्तु गौण व सहायक पात्रों के सर्जन में कलाकार को विशेष सतर्क रहना चाहिये ।

एकांकी में अनावश्यक विस्तार, लम्बे-लम्बे वर्णन, विलम्ब तथा विस्तृत कथानक तथा रसविहीन कथोपकथन के कारण कौतूहल की सृष्टि में बाधा पड़ती है । कलात्मक एकांकी में कौतूहल का सर्जन अनेक बार होता है ।

दर्शक या पाठक का एकांकी में प्रवेश कौतूहल की वक्र गति के साथ होता है । घटनाओं तथा चरित्र-चित्रण की सोढ़ियों पर चढ़ता हुआ पाठक चरम सीमा में प्रवेश करता है । वास्तव में घटना में गति की घनीभूत तरंगें आती हैं जो कौतूहल से खिचकर चरम सीमा में परिणत हो जाती हैं । एकांकी की कथावस्तु में कौतूहल का रेखा-चित्र हमारी कल्पना-नुसार निम्नलिखित होगा :—



एकांकी नाटक में कौतूहलवर्द्धक पृष्ठ २१ पर दिये तत्त्व सहायक होते हैं ।

- (१) लघु आकर्षक शीर्षक ।
- (२) सुन्दर तथा मनोरंजक प्राण ।
- (३) सुलभा हुआ, सरल, प्रभावशाली, मनोवैज्ञानिक, स्वाभाविक, सुसम्बद्ध, तारतम्य प्रवाह तथा यथार्थ से युक्त कथानक ।
- (४) सबल, सजीव, सुस्पष्ट, अनुभूतिपूर्ण एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण ।
- (५) स्वाभाविक घटनाएं ।
- (६) मार्मिक, संक्षिप्त तथा पात्रानुकूल कथोपकथन ।
- (७) प्रभावशाली अन्त ।

एकांकी में कौतूहल के लिए अस्वाभाविक, असंभावित, अयथार्थ एवं श्रृङ्खलास्पद घटनाएं अभिशाप के रूप में हैं ।

एकांकी का आरम्भ और अन्त —एकांकीकार को (कहानीकार के समान ही) अपनी रचना में आरम्भ तथा अन्त का विशेष ध्यान रखना चाहिये । एकांकी का आरम्भ एवं अन्त विशेष कलात्मक तथा प्रभावशाली होना चाहिये । आरम्भ ऐसा होना चाहिये कि पाठकों एवं दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित कर ले और अन्त ऐसा होना चाहिये जो कुछ समय के लिए पाठकों पर प्रभाव छोड़ जाये । आलोचकों का कथन है कि एकांकी नाटक की कथावस्तु घुड़-दौड़ के समान है कि जिसमें आरम्भ और अन्त ही विशेष ध्यान देने योग्य है । कथावस्तु एक बार आरम्भ हो जाने के बाद तीव्रगति से अन्त की ओर अग्रसर हो जाती है । इस वेग-पूर्ण प्रवाह में पाठकों और दर्शकों को प्रभावित करने वाले दो ही तत्त्व हैं—आरम्भ और अन्त ।

आरम्भ —एकांकी एक लघु रचना है । उसका जीवन केवल कतिपय मिनटों तक ही सीमित है, अतः एकांकीकार को यह ध्यान रखना चाहिये कि उसकी रचना का आरम्भ अत्यन्त संक्षिप्त हो परन्तु सिडनी

फाक्स का मत है कि पर्दा उठते ही पात्र कथानक पर टूट न पड़े। कथा-वस्तु से सम्बन्धित विषय को ग्रहण कर एकांकी का समारम्भ होता है, और पात्रों के संक्षिप्त परिचय के बाद मुख्य कथा की गति प्रारम्भ होती है। हिन्दी में कुछ ऐसे भी एकांकी लिखे गये हैं, जिनमें कथावस्तु प्रारम्भ होने के पहले सम्भाषणों द्वारा पात्रों का परिचय दे दिया गया है और साथ ही मुख्य कथावस्तु का पूर्वाभास भी। (२) आरम्भ के सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि एकांकी का प्रारम्भ स्तवन अथवा नन्दी पाठ से नहीं होना चाहिये। समयाभाव इतना अधिक है कि एक क्षण भी निरर्थक बातों में न व्यतीत हो। (३) एकांकी के आरम्भ में पात्रों के वार्तालाप आकर्षक और हृदयग्राही हों। (४) नाटककार को आरम्भ का दृश्य ऐसा रखना चाहिये जो पाठकों और दर्शकों को अपनी ओर तुरन्त आकर्षित कर ले। (५) एकांकी का यह सर्वोपरि गुण है कि उसका प्रथम दृश्य ही मन को आकर्षित कर ले। सिडनी फाक्स ने इस पर बहुत जोर दिया है, उसका कथन तो यहाँ तक है कि “ज्यों ही पर्दा उठे त्यों ही दर्शक का ध्यान नाटककार के विचार निर्मित संसार में स्वतः आ जाय।” (६) नाटक के आरम्भ के बाद एकांकीकार के लिए यह आवश्यक है कि कथावस्तु के अनुकूल वातावरण के निर्माण में अधिक विलम्ब न करे।

अंत—एकांकी नाटक में कथावस्तु आरम्भ हो जाने पर अंत की ओर बड़ी तीव्रता के साथ अग्रसर होती है। इस समय एकांकी की कथावस्तु में पहाड़ी नाले की-सी तीव्रता और गति का समावेश हो जाता है। कथानक की इस गति में संचारी भाव के सदृश यदाकदा लेखक पात्रों के हृदय में किसी विशेष घटना अथवा पात्र के सम्बन्ध में स्मृति जाग्रत कर देते हैं। इससे कथावस्तु में और भी अधिक स्पष्टता का संहार हो जाता है।

एकांकी की कथावस्तु के अंत के सम्बन्ध में लेखकों को निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :—

- (१) एकांकी का अन्त प्रभावशाली हो । अंतिम दृश्य का दर्शकों पर पूर्ण प्रभाव पड़े ।
- (२) पाठकों वा दर्शकों को एकांकी के अंतिम दृश्य से कलाकार की प्रेरणा-स्रोत का सम्यक् ज्ञान हो जाय ।
- (३) नाटक का अन्त स्पष्ट हो । उसमें रहस्यमयता न हो । स्पष्ट अन्त का प्रभाव पाठकों या दर्शकों पर पड़ना अवश्यम्भावी है । रहस्यमय अन्त से रसानुभूति में अन्तर पड़ता है । पाठक और दर्शक संदेह के मध्य आंदोलित रहते हैं ।

एकांकी नाटकों का वर्गीकरण—हिन्दी एकांकी का वर्गीकरण हिन्दी के विद्वान् आलोचकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किये हैं । श्री अमरनाथ गुप्त ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'एकांकी नाटक' में नाटकों का वर्गीकरण पाश्चात्य शैली के आधार पर किया है । डा० नगेन्द्र तथा डा० सत्येन्द्र के वर्गीकरण के दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न हैं । सत्य यह है कि “मुण्डे मुण्डे मति भिन्नः” । उपर्युक्त प्रत्येक विद्वान् ने अपनी दृष्टि से वर्गीकरण अत्यन्त स्पष्ट तथा वैज्ञानिक किये हैं । हिन्दी में एकांकी का वर्गीकरण साधारणतया (१) प्रकार भेद, (२) विषय, (३) टेक्नीक तथा (४) प्रतिपाद्य सिद्धांतों के आधार पर किया गया है । प्रकार भेद को ही ले लीजिये । श्री अमरनाथ गुप्त ने हिन्दी एकांकी साहित्य का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में किये हैं :—

(१) समस्या-मूलक एकांकी—इनकी रचना समस्या को लेकर की जाती है ।

(२) फैंटेसी एकांकी —खुले स्थान पर खेले जाने वाले एकांकी ।

(३) प्रहसन एकांकी —इनका ध्येय हँसना और हँसाना होता है ।

(४) सीरियस एकांकी —साहित्य की उत्तमोत्तम रचना ।

- (५) लक्ष्य प्रधान एकांकी—वे एकांकी जिनकी रचना किसी व्येय से प्रेरित होकर की जाती है ।
- (६) मैलोड्रेमेटिक एकांकी—वे एकांकी जिनमें किसी के दुःख से दुःखी होने के बजाय हम हंसते हैं ।
- (७) सुखांत एकांकी —वे एकांकी जिनका अन्त सुख में होता है ।
- (८) ऐतिहासिक एकांकी —इतिहास से सम्बन्धित एकांकी ।
- (९) व्यंग्यात्मक एकांकी —दर्द भरा व्यंग्य लिये हुए एकांकी ।
- (१०) हार लिक्विनेड एकांकी—गांवों के अभिनीत स्वांग से साम्य रखते हुये ।
- (११) काकनी एकांकी —मजदूरों की विकृत भाषा में लिखे गये एकांकी ।
- (१२) सामाजिक एकांकी

डाक्टर नगेन्द्र ने एकांकी के कतिपय निम्नलिखित प्रकारों का उल्लेख किया है :—

- (१) सुनिश्चित टेकनोक वाला एकांकी—वे एकांकी जिनमें संकलनार्थ हो तो श्रेष्ठ है नहीं तो प्रभाव और वस्तु का ऐक्य अनिवार्य स्थान तथा काल की एकता का निर्वाह भले न हो ।
- (२) संवाद या संभाषण —यथा-हरिशंकराशर्मा का “चिड़ियाघर”
- (३) मोनोड्रामा —स्वगत का परिवर्धित रूप—यथा सेठ गोविन्ददास का “चतुष्पथ” ।
- (४) फीअर —रेडियो का नवीनतम प्रयोग । इसका स्वरूप प्रायः सूचनात्मक होता है ।

- (५) फैंटेसी —एकांकी का अत्यन्त रोमांटिक रूप ।
इसके लिये लेखक का दृष्टिकोण एकांत,
वस्तुगत तथा स्वच्छन्द हो । इसके
कल्पना का मुक्त विहार होता है ।
- (६) भाँकी —इसमें केवल एक दृश्य होता है । इसे
एकांकी का शुद्ध रूप होना चाहिये ।
इसमें स्थान तथा समय के ऐक्य का
पूरा-पूरा निर्वाह होता है ।
- (७) रेडियो प्ले —एकांकी से इसका कोई तात्त्विक भेद
नहीं है ।

डा० सत्येन्द्र ने हिन्दी एकांकी का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया है :—

(१) प्रकार की दृष्टि से (३) विषय की दृष्टि से

(२) मूलवृत्ति की ,, ,, (४) वादों की ,, ,,

प्रकार की दृष्टि से निम्नलिखित प्रकार के एकांकी होते हैं :—

(१) मालावात् एकांकी

(२) गौण प्रधान एकांकी

(३) अलौकिक एकांकी

(४) एकांकी संक्षिप्ति

(५) उपसर्गीय एकांकी

(क) सामाजिक, (ख) ऐतिहासिक, (ग) राजनीतिक, (घ) चारित्रिक,

(ङ) तथ्य प्रदर्शक शैली के आधार पर श्री सत्येन्द्र कुत सात भेद :—

(१) सीधी सादी शैली (५) बौद्धिक तथा काव्यात्मक शैली

(२) व्यंग्यात्मक ,, (६) समस्यामूलक ,, ,,

(३) हास्यपूर्ण ,, (७) दुःखान्त तथा सुखान्त ,, ,,

(४) गंभीर ,,

मूलवृत्ति के आधार पर कृत एकांकी के भेद निम्नलिखित हैं :—

- | | |
|------------------------|-------------------------|
| (१) आलोचक एकांकी | (४) व्याख्यामूलक एकांकी |
| (क) विवेकवान (ख) भावुक | (५) आदर्शमूलक ,, |
| (२) समस्या एकांकी | (६) प्रगतिवादी ,, |
| (३) अनुभूतिमय एकांकी | |

इस प्रकार एकांकी साहित्य को अनेक प्रकार से वर्गीकरण के क्रम में बाँधा जा सकता है ।

एकांकी तथा नाटक—एकांकी नाटक की टेक्नीक बड़े नाटक के शिल्प से भिन्न तथा पृथक् है । उसकी अपनी विशिष्ट सत्ता है । एकांकी एवं नाटक दोनों एक नहीं हैं । उनकी कला में अन्तर है । इसे हम बड़े नाटक का संक्षिप्तीकरण भी नहीं कह सकते हैं । बड़े नाटकों के अंकों में अन्त की ओर अग्रसर होने की वह तीव्रता नहीं उपलब्ध होती है जो एकांकी में आद्योपांत दृष्टिगत होती हैं । बड़े नाटकों में मुख्य तथा प्रासंगिक कथावस्तु एक-दूसरे के साथ मिल-जुलकर साथ-साथ लिपटी हुई चलती है । नाटक से सर्वथा भिन्न एकांकी हैं जहाँ केवल एक कथावस्तु की अभिव्यक्ति मिलती है । नाटक में समस्त जीवन की प्रमुख घटनाओं को प्रस्तुत किया जाता है परन्तु एकांकी में जीवन की एक घटना की अभिव्यक्ति होती है । एकांकी जीवन की एक राशि है । एकांकी में केवल एक घटना रहती है । वही घटना नाटकीय कौशल से ही कौतूहल का संचयन करती हुई चरम सीमा तक पहुँच जाती है । एकांकी में अप्रधान प्रसंग नहीं रहते हैं । एक-एक वाक्य तथा एक-एक शब्द प्राण की तरह अनिवार्य हैं । पात्रों की संख्या ४-५ की सीमा का उल्लंघन नहीं करती है । प्रत्येक पात्र की रूप-रेखा पत्थर पर अंकित की हुई रेखा की भाँति स्पष्ट तथा गंभीर होती

है । यथा कहानी उपन्यास से भिन्न है उसी प्रकार एकांकी नाटक से भिन्न है । संक्षिप्त रूप से दोनों में अन्तर निम्नलिखित है :—

बड़े नाटक

- (१) जीवन की विविधता का चित्रांकन ।
- (२) अनेक पात्र ।
- (३) कथा का सांगोपांग विचार ।
- (४) अनेक अंक ।
- (५) चरित्र-चित्रण में विविधता ।
- (६) कौतूहल की अनिश्चित स्थिति ।
- (७) वर्णनात्मकता का आधिक्य ।
- (८) चरम सीमा का विस्तार ।
- (९) कथानक की घटना विस्तार में मंदगति ।

एकांकी नाटक

- (१) जीवन की एकरूपता का चित्रण ।
 - (२) परिमित पात्र ।
 - (३) कथा के अनावश्यक अंग की उपेक्षा ।
 - (४) केवल एक अंक ।
 - (५) चरित्र-चित्रण की तीव्र और संक्षिप्त रूपरेखा ।
 - (६) प्रारम्भ से ही कौतूहल की स्थिति ।
 - (७) व्यंजनात्मकता का आधिक्य ।
 - (८) चरम सीमा का बिन्दु में केन्द्रीकरण ।
 - (९) कथानक की घटना न्यूनता में क्षिप्र गति ।
-

एकांकी का भविष्य

एकांकी नाटक देश की नवीन परिस्थितियों की सृष्टि है। इस नाटक में सरल, सुकोमल भावनाएँ होती हैं जो कि मस्तिष्क की थकान को दूर कर सकती हैं। एकांकी का ध्येय साहित्यिक मनोरंजन ही होता है। साहित्य के माध्यमों में एकांकी एक शक्तिशाली माध्यम है। हिन्दी के क्षेत्र में रंगमंच का अभाव है, फिर भी एकांकी नाटक खुले हुए रंगमंच पर ही खेल लिये जाते हैं। थोड़े ही समय में जीवन के विभिन्न क्रिया-कलाओं का दिग्दर्शन हो जाता है। इसी कारण आज एकांकी नाटकों की माँग बढ़ती जा रही है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एकांकी नाटकों का आधिपत्य-सा होता चला जा रहा है। शिक्षालय तथा रेडियो में तो एकांकी का महत्त्व और भी बढ़ता जा रहा है। शिक्षालयों के प्रत्येक उत्सव पर एकांकी नाटक अवश्य ही खेले जाते हैं। रेडियो में भी बहुधा एकांकी नाटक आते हैं। सर्वोत्कृष्ट नाटककार भी रेडियो के लिए एकांकी नाटकों की रचना करते हैं।

एकांकी जीवन की एक भाँकी है। आज के इस मशीन-युग में जब कि मानव को अधिक अवकाश नहीं है, उस समय वह एकांकी द्वारा मनोरंजन प्राप्त कर सकता है। मानव को इतना अवसर नहीं मिलता कि वह बड़े-बड़े नाटकों व उपन्यासों का अध्ययन कर सके। पर प्रश्न यह भी उठ सकता है कि चल-चित्र से भी तो हमें मनोरंजन प्राप्त होता है। इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि मानव एकमात्र अभिनय देखने में ही रुचि नहीं लेता वरन् स्वयं भी अभिनय करना चाहता है। व्यस्त जीवन में वह कुछ ऐसे भी क्षण व्यतीत करना चाहता है, जिसमें उसको सन्तोष प्राप्त हो सके। हृदयस्पर्शनी घटनाएँ व हास्यास्पद घटनाएँ जिनसे भी वह प्रभावित होगा उसी प्रकार का अभिनय करने में उसे आनन्द आयेगा।

एकांकी नाटकों में हम सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक व धार्मिक समस्याओं को नवीन आदर्शों के साथ प्रस्तुत कर सकते हैं। वैज्ञानिक आविष्कार टेलीविजन से एकांकी को और भी आश्रय मिला है। एक साधारण या छोटे से रंगमंच पर एकांकी का अभिनय किया जा सकता है और उसका विस्तृत व व्यापक प्रचार भी हो सकता है।

हिन्दी साहित्य में एकांकी का प्रारम्भ प्रसाद के 'एक घूंट' से मानते हैं। इन कुछ ही वर्षों में एकांकी कला ने अत्यधिक प्रगति की है परन्तु फिर भी खेद के साथ कहना पड़ता है कि न जाने कितने ही एकांकी नाटककारों को एकांकी नाटकों की टैकनीक का कोई भी ज्ञान नहीं है। यदि एकांकी नाटककार टैकनीक का ध्यान रखें तो वह अपनी कला में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। जहाँ तक सम्भव हो सके रंगमंच के दृष्टिकोण से ही वे नाटकों की रचना करें। सरिता का जल प्रवाहित होते-होते समुद्र तक पहुँच जाता है। यदि इसी प्रकार प्रयत्नशील होकर नाटककार गतिशील हो जायँ तो अभिनय एकांकी नाटकों की संख्या न्यून न रह जाय। एकांकी नाटकों का भविष्य अत्यधिक उज्ज्वल है।

राजरानी सीता

(डा० रामकुमार वर्मा)

एकांकी के निष्ठावान विद्वान् भक्त वर्माजी ने पाश्चात्य एकांकी कला से पूर्णतया लाभ उठाकर, उसके समस्त गुणों एवं विशेषताओं को भारतीय नाट्य-शास्त्र की परिमार्जित तथा सुष्ठु शैली में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है और इस दिशा में उन्हें आशातीत सफलता भी प्राप्त हुई है। भारतीय संस्कृति के प्रति उन्हें बड़ा आकर्षण है। नये युग की नई तथा कल्याणप्रद अनुभूतियों को उन्होंने अपनी राष्ट्रीयता में उसी प्रकार ग्रहण किया है यथा वृक्ष की जड़ें भूमि से रस ग्रहण करके उसे अपने पल्लवों की हरीतिमा में परिणत करती हैं। डा० वर्मा मनोविज्ञान के विद्यार्थी तथा कुशल ज्ञाता हैं। अतः सिद्धान्तों से उन्हें अरुचि है। वर्माजी के एकांकी नाटकों के कथानक अधिकांश रूप में ऐतिहासिक, सामाजिक तथा पारिवारिक समस्याओं से सम्बन्धित रहते हैं। ऐतिहासिक कथानकों में उनकी विशेष रुचि है।

डा० वर्मा द्वारा विरचित एकांकी नाटक रंगमंच के लिए पूर्णतया उपयुक्त और अनुकूल है। स्थान-स्थान पर उनका अभिनय सफलतापूर्वक हुआ है। आपको रेडियो-प्ले लेखन में भी बड़ी सफलता प्राप्त हुई है।

प्रस्तुत संग्रह का एकांकी “राजरानी सीता” उनकी बड़ी प्रसिद्ध रचना है। यह पौराणिक नाटक है। इस एकांकी की कथावस्तु महारानी सीता की अशोक वाटिका की प्रसिद्ध घटना से सम्बन्धित है। परम्परागत यह कथावस्तु वर्मा जी की लेखनी का संस्पर्श पाकर कलेवर में अभिनव तथा आकर्षक प्रतीत होती है।

महारानी सीता, महाबली रावण तथा मन्दोदरी के संवाद, इस एकांकी में, आदर्श से युक्त तथा कलात्मकता के रंग में अनुरंजित कथोप-कथन प्रस्तुत करते हैं। इस नाटक में भगवान् राम के प्रति महारानी सीता की निष्ठा और पूर्ण समर्पण की भावना प्रतिबिम्बित होती है। यह एकांकी रावण की महत्ता का आभास प्रदान करने में भी समर्थ है।

रंग संकेतों से नाटक में जीवन का संचार तथा रोचकता का समावेश हो गया है।

नाटक के पात्र

स्त्री पात्र	{	राजरानी सीता—महाराज राम की पत्नी	{	राजा रावण की दासियाँ
		मन्दोदरी—राजा रावण की पत्नी		
स्त्री पात्र	{	विचित्रा	{	राजा रावण की दासियाँ
		सौदामिनी		
		चित्रा		
		सुलेखा		
		त्रिजटा		
पुरुष पात्र	{	हनुमान—महाराज राम के दूत	{	राजा रावण की दासियाँ
		रावण—लंका का अधिपति		

राजरानी सीता

स्थान—अशोक-वाटिका

(अशोक वृक्ष के नीचे महारानी सीता शोकमग्न मुद्रा में बैठी हुई हैं। उनके समीप दासी विचित्रा बैठी है। नेपथ्य में शंखों और घंटों की ध्वनि हो रही है। आज रावण ने एक बहुत बड़ा महोत्सव भगवान् शङ्कर के मन्दिर में किया है। धीरे-धीरे यह ध्वनि क्षीण होती है और फिर सम्मिलित स्वर में सुनाई पड़ता है :—महादेव शङ्कर को जय...! महाराजाधिराज रावण को जय...! यह ध्वनि धीरे-धीरे मन्द होती हुई वायु में विलीन हो जाती है। ऐसा ज्ञात होता है जैसे 'जय' ध्वनि करने वाले मन्दिर से बाहर जा रहे हैं। 'जय-ध्वनि' के वायु में विलीन होते-होते महारानी सीता के कंठ से एक गहरी सिसकी निकल पड़ती है।)

विचित्रा—महारानी, आज महादेव शङ्कर के मन्दिर में महाराजाधिराज रावण ने दसवाँ उत्सव मनाया है। आपने राजाधिराज रावण की जय नहीं बोली !

(महारानी सीता फिर सिसकी भरती हैं और सिसकी

भरते हुए करुण शब्दों में कहती हैं—)

महा...राजाधिराज...रघुवीर की...जय !

विचित्रा—महाराजाधिराज रघुवीर की जय ! अब भी आपने महाराजाधिराज रघुवीर की जय कहना नहीं छोड़ा ? आज दस मास बीत गये। आपको पाने के लिए महाराज ने भगवान् शङ्कर के मन्दिर में उत्सव किये, आपने दस बार क्या एक बार भी महाराज रावण की जय नहीं कही।

सीता—कपटमृग के पीछे महाराज रघुवीर जिस प्रकार धनुष-बाण लेकर दौड़े थे—भौंहेँ कसी हुई थीं, नेत्र कुछ लाल हो रहे थे, दृष्टि स्थिर थी, नीचे का होंठ दांतों से दबा हुआ था, मुख पर पसीने के कुछ बिन्दु झलक रहे थे, ऐसे श्री रघुवीर की शोभा की—ऐसे श्री रघुवीर की जय ! एक बार नहीं—दस बार जय !

विचित्रा—आप जानती हैं, इस हठ का परिणाम क्या होगा ?

सीता—मैं उस परिणाम के लिए व्याकुल हूँ, बहिन ! यदि शरीर से श्री रघुवीर के दर्शन न कर सकूँ तो प्राण से ही उनके समीप पहुँच सकूँ ! महाराज से जाकर कौन कहे कि तुम अभी तक नहीं आये और सीता तुम्हारे विरह से—(सिसकियाँ)

(तीन दासियों का प्रवेश । उनका नाम क्रमशः सौदामिनी, चित्रा, सुलेखा है ।)

सौदामिनी—महारानी, महाराज रावण इधर आ रहे हैं । विचित्रा तू बाहर जा कर महाराज का स्वागत कर ।

विचित्रा—बहुत अच्छा । (प्रस्थान)

चित्रा—(महारानी सीता से) महारानी आप सिसकियाँ क्यों भर रही हैं ? आज तो उत्सव का दिन है । महाराज रावण ने आज भगवान् शंकर की पूजा कर स्वयं वेद-पाठ किया है ।

सुलेखा—और पूजा करने के पूर्व महाराज ने आज्ञा की थी कि आज महारानी सीता का शृंगार हो ।

सीता—जिसके हृदय में रघुवीर हैं, उसके शृंगार की आवश्यकता नहीं है ।

सौदामिनी—रघुवीर का स्मरण करते हुए आप थकती नहीं ! आज आप इस नाम को भूल जायें । इस समय महाराज रावण का नाम सब से

से ऊंचा है। ओफ् ! आज महाराज की कितनी भव्य मूर्ति थी—मस्तक पर त्रिपुंड, भौंहों में कितनी कमनीयता, जैसे यज्ञ के धुएँ की काली रेखाएँ हों। नेत्र यज्ञ के धुएँ से कुछ-कुछ लाल थे। हाथ में चन्द्रहास तलवार थी। क्यों चित्रा ?

चित्रा—और जब उन्होंने चन्द्रहास से अपना मस्तक काट कर भगवान् शङ्कर के सामने अर्पण किया तो उनके कटे हुए सिर के मुख पर कितनी मधुर मुस्कान थी !

सुलेखा—और चित्रा, कितने आश्चर्य से हम लोगों ने देखा कि कटे हुए मस्तक के नीचे से दूसरा सिर फिर से महाराज के गले पर सुसज्जित हो गया है, यह प्रताप भगवान् शङ्कर का है, क्यों सौदामिनी ?

सौदामिनी—महाराज की भक्ति का नहीं है ? वे कितने बड़े भक्त हैं यह तो सारा संसार जानता है। जब उन्होंने एक बार शम्भु सहित सफेद कैलाश पर्वत उठाया तो ऐसा मालूम हुआ जैसे आकाशरूपी नीले सरोवर में महाराज के हाथ रूपी कमल पर हंस शोभायमान हो रहा है। बिना ऊँची भक्ति के भगवान् शम्भु को कैलाश पर्वत सहित भला कौन भक्त उठा सकता है ?

चित्रा—यह तो महाराज का बल है सौदामिनी, महाराज की शक्ति और शूरवीरता तो इतनी अधिक है कि जब उन्होंने अपने हाथ अपना सिर काट कर अग्नि में होम किया तो ब्रह्मा के लिखे हुए मस्तक के लेख महाराज ने अपने नवीन मुख से पढ़े। उनमें लिखा हुआ था कि तुम्हारी मृत्यु नर के हाथों से होगी। महाराज अट्टहास कर उठे। कहने लगे—बूढ़े ब्रह्मा की बुद्धि भी भ्रष्ट हो गई है। जब शक्तिशाली देवता भी मेरे वश में हैं, तो नर की शक्ति ही कितनी कि वह मेरे सामने खड़ा हो सके !

सौदामिनी—महारानी सीता, ऐसे शक्तिशाली महाराज की बात स्वीकार करने में तुम्हें संकोच है ?

सीता—बड़े से बड़ा जुगनू भी चन्द्रमा की समानता नहीं कर सकता । (तीव्र स्वर में) मैं महाराज रघुवीर के अतिरिक्त किसी का नाम नहीं सुनना चाहती ।

सुसेखा—महारानी सावधान ! ऐसा हठ मैंने जीवन में पहली बार देखा । देवकन्या, यक्षकन्या, गन्धर्वकन्या, नरकन्या, नागकन्या ऐसी कितनी ही सुन्दरियों ने महाराज के बाहु-बल पर मोहित होकर आत्म-समर्पण कर दिया, किन्तु आपने...

सीता—(सोचते हुए धीरे-धीरे) इनमें कोई विदेह कन्या नहीं रही ।

(नेपथ्य में महाराज रावण की जय का घोष)

सुसेखा—महारानी सीता, महाराज की आज्ञानुसार आप अपना शृङ्गार करें । महाराज आने ही वाले हैं ।

सीता—क्या महारानी मन्दोदरी के शृङ्गार से तुम्हारे महाराज रावण को सन्तोष नहीं हुआ ? अपनी महारानी के शृङ्गार को छोड़कर जो दृष्टि परनारी के शृङ्गार की ओर जाती है, वह दृष्टि तुम्हारे महाराज ने आग में होम नहीं की ? (करुण स्वर में) बेचारी मन्दोदरी...

(नेपथ्य में फिर, महाराजाधिराज रावण की जय । रावण के साथ महादेवी मन्दोदरी और दासी त्रिजटा आती हैं रावण का प्रवेश करते ही अट्टहास)

सौदामिनी—राजाधिराज और महादेवी की सेवा में प्रणाम स्वीकृत हो ।

चित्रा—राजाधिराज और महादेवी की सेवा में प्रणाम स्वीकृत हो ।

सुलेखा—राजाधिराज और महादेवी की सेवा में प्रणाम स्वीकृत हो ।

रावण—राजाधिराज की सेवा में तुम्हारा अनुराग रहे । संवत्सरों तक तुम राजाधिराज और महादेवी की सेवा करती रहो । तुम्हारी महारानी सीता का शृङ्गार हुआ ? (देखकर) नहीं हुआ । सौदामिनी, यह शृङ्गार क्यों नहीं हुआ ? चित्रा, तुमने महारानी को सुसज्जित क्यों नहीं किया ? सुलेखा, तुमने पुष्पों की मालाओं और मोतियों से महारानी के केश क्यों नहीं सजाये ?

सौदामिनी—(नम्रता से) महारानी की इच्छा नहीं थी ।

रावण—(दुहराते हुए) महारानी की इच्छा नहीं थी । (सोचकर) हाँ, महारानी की इच्छा सर्वोपरि है त्रैलोक्य-सुन्दरी महारानी सीता की इच्छा का आदर होना चाहिये । अच्छा, जाओ । तुम लोग महारानी सीता को प्रणाम कर यहाँ से जाओ ।

तीनों—(सम्मिलित स्वर में) महारानी सीता को प्रणाम ।

(सीता कुछ उत्तर नहीं देती, दासियों का प्रस्थान)

रावण—प्रणाम का कुछ उत्तर नहीं दिया महारानी सीता ने ? (अट्टहास) ठीक है । कहाँ त्रैलोक्य की शोभा का शृङ्गार और कहाँ तुच्छ दासियाँ ? प्रणाम का उत्तर भी कैसे हो सकता है ? हाँ, अगर महादेवी मन्दोदरी प्रणाम करें तो सम्भवतः उत्तर मिले । (मन्दोदरी को ओर देखकर) महादेवी मन्दोदरी !

मन्दोदरी—महारानी सीता को मन्दोदरी का प्रणाम ।

सीता—प्रभु अनाथों पर कृपा करें ।

(रावण मुक्त अट्टहास करता है ।)

रावण—यह निष्ठा देखी ? महादेवी मन्दोदरी ! एक तपस्वी के प्रति यह निष्ठा ! संसार में किसी नारी के पास ऐसी निष्ठा नहीं । मैं इस निष्ठा से प्रभावित हूँ, महारानी सीता ! किन्तु यह निष्ठा शृङ्गार के साथ नहीं । आज तो शृङ्गार होना चाहिये था । आज के पुरण पर्व में देवाधि-देव शङ्कर स्वयं आये थे । महादेवी मन्दोदरी, तुमने भगवान् शङ्कर की छवि देखी थी ?

मन्दोदरी—मैं तो आपकी और भगवान् शङ्कर की छवि में कुछ देर तक अन्तर भी न देख सकी । यदि उनके हाथ में त्रिशूल और आपके हाथ में चन्द्रहास न होता तो दोनों का स्वरूप एक ही था ।

(रावण अट्टहास करता है)

रावण—ठीक है, भक्त और भगवान् में एकरूपता तो होनी ही चाहिये । किन्तु आज उनकी मुद्रा कुछ उदास थी । सम्भवतः इसलिए कि महारानी सीता ने शृङ्गार नहीं किया । (सीता जी से) महारानी, आपकी मलिनता का क्षोभ देवाधिदेव शङ्कर को भी होता है । आपको आज शृङ्गार करना चाहिये ।

(सीता सिसकियाँ भरती हैं)

रावण—ये आँसू... ..। ये आँसू आपके सौन्दर्य के अनुरूप नहीं हैं, महारानी सीता ! और आपके सिर पर केशों की एक ही वेणी, यह मैली साड़ी, ये भूमि पर गड़े हुए नेत्र, यह उदासी ! जैसे चन्द्र के साथ अन्धकार हो । क्यों महादेवी ! चन्द्र के साथ अन्धकार कैसे निवास करता है ?

मन्दोदरी—चन्द्र के साथ नहीं, चन्द्र के भीतर अन्धकार निवास करता है, महाराज !

रावण—वह अन्धकार नहीं है, महादेवी ! वह तो मेरा आतङ्क है जो चन्द्रमा सदैव अपने हृदय पर लिये फिरता है । संसार के लोग उसे कलंक कहते हैं । किन्तु वह चन्द्र के हृदय में राजाधिराज रावण का भय है, आतंक है । इस समय जाने दो इन बातों को । मुझे तो इन नेत्रों से त्रैलोक्य के सौन्दर्य को देखना है, महारानी सीता... (सीता मौन रहती हैं) आज सौन्दर्य में वाणी नहीं है, पुष्प में सुगन्ध नहीं है, चन्द्रमा में किरण नहीं है । मैंने सारे भूमण्डल का पर्यटन किया, स्वर्ग के देवताओं को जीता, पातालपुरी के नागों को अधीन किया, किन्तु ऐसा दिव्य सौन्दर्य नहीं देखा । मैं समझता था कि मेरी महादेवी ही सौन्दर्य की स्वामिनी हैं ।

मन्दोदरी—महाराज, आप मुझे व्यर्थ आदर दे रहे हैं ।

रावण—तब महादेवी, तुम भी यह स्वीकार करती हो कि महारानी सीता तुमसे अधिक सुन्दरी हैं ?

मन्दोदरी—मैं इसे स्वीकार करती हूँ, महाराज ?

रावण—तब तो महादेवी, तुम्हें महारानी की सेवा करनी चाहिये । सुनिए महारानी सीता, यदि आप एक बार भी मुझ पर कृपालु हो जावें तो मैं महादेवी मन्दोदरी से लेकर सभी रानियों को आपकी अनुचरी बना दूँगा । बोलिए आप महादेवी मन्दोदरी की सेवा स्वीकार करेंगी ?

सीता—महादेवी मन्दोदरी, मैं आपसे केवल एक तृण चाहती हूँ ।

रावण—तृण ? केवल तृण ? क्यों ? किस लिए ? महादेवी, इन्हें एक सोने का तृण लाकर दो । महारानी उससे अपनी स्वीकृति लिखेंगी, साथ ही काले पत्थर की एक कसौटी भी । कसौटी पर वह स्वर्णरेखा जैसे अन्धकार पर सूर्य की किरण के समान होगी । वही महारानी के कृपा की स्वीकृति होगी ।

सीता—नहीं महादेवी, मैं केवल भूमि का तृण चाहती हूँ ।

रावण—यह किस लिए ?

मन्दोदरी—मैं जानती हूँ महाराज, किस लिए । क्या महारानी सीता की इच्छा पूरी की जाय ?

रावण—उनकी इच्छा सर्वोपरि है । तृण को वे मेरे सामने रख कर ही बातें करें । मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं ।

मन्दोदरी—(तृण तोड़कर देती है) यह लीजिये ।

सीता—(तृण लेते हुए) धन्यवाद महादेवी !

रावण—महारानी मैं अपने प्रस्ताव की स्विकृति चाहता हूँ । मैं कब से महादेवी मन्दोदरी को आपकी सेवा में नियोजित कर दूँ ?

सीता—एक स्त्री का अपमान करने के पश्चात् दूसरी स्त्री के अपमान करने का प्रस्ताव ? इस मूर्खता के सम्बन्ध में मैं क्या कहूँ ? क्या वेद पाठ करने वाले पण्डित के ज्ञान की यह विडम्बना नहीं है ?

रावण—महारानी, सीता ! (तीव्र स्वर से) महाराज रावण का अपमान करने की शक्ति किसी में नहीं है ।

सीता—किस रावण का अपमान ? उस रावण का जो प्रभु के दूर चले जाने पर सूने आश्रम से मुझे हरण कर लाया है ? उस रावण का जो सन्यासी का वेश रखकर आया और चोर बन कर गया ? उस रावण का जो भिक्षा माँग कर संसार के समस्त भिक्षुओं को लज्जित कर गया ? आज बही रावण अपने अपमान की बात कर रहा है ! उस रावण ने भिक्षुओं तक का अपमान किया है ।

मन्दोदरी—महारानी सीता शान्त हो ।

रावण—महादेवी मन्दोदरी, तुम रावण को शान्त नहीं करती ? रोज पिछले दस महीनों से वह तिल-तिल कर जल रहा है। देवाधिदेव शङ्कर के दस महोत्सव किये हैं, दस बार प्रार्थनाएँ की हैं कि महारानी सीता मुझ पर अनुकूल हों, किन्तु न शङ्कर ने स्वीकृति दी और न महारानी सीता ने ही। मैंने दस महीनों से कुबेर की भेंट स्वीकार नहीं की, ब्रह्मा के कंठ से वेद-पाठ नहीं सुना, सूर्य को सभा में नहीं आने दिया। चन्द्रमा की अमृत-वाणी नहीं सुनी। सारे वैभव छोड़ दिये। एकमात्र इसलिए कि महारानी सीता एक बार कृपापूर्वक मेरी ओर मुख करें। किन्तु आज तक मैं इस सुख से वंचित रहा। मैं कितना अशान्त हूँ, यह अग्नि की लपटों से पूछो, लंका की सीमा पर गर्जन करते हुए सागर से पूछो। इसे तुम नहीं जान सकतीं, महादेवी !

मन्दोदरी—जानती हूँ महाराज, किन्तु यदि आपकी इच्छा पर सारे वैभव आपको छोड़ दें, ब्रह्मा, कुबेर, सूर्य और चन्द्र आपके दर्शन का वरदान न पावें तो इसमें उनका क्या दोष ? दोष आपकी इच्छा का है।

रावण—तुम भी सीता से सहानुभूति रखती हो, महादेवी ! मेरे प्रताप की ओर से आँख बन्द कर सीता को भी निर्भोक और निडर बनाती हो ?

सीता—प्रभु के बल से कौन निर्भोक और निडर नहीं है ? उनके प्रताप के सामने तुम्हारा प्रताप क्या है ? क्या जुगनुओं का प्रकाश कभी सूर्य के प्रकाश की समानता कर सकता है और उस प्रकाश से क्या कभी कमलिनी खिल सकती है ? ऐसे व्यक्ति का प्रताप... ..

रावण—(अट्टहास करते हुए) मेरा प्रताप ! महारानी सीता ! जिसके पुत्र ने सुरेश्वर इन्द्र को जीत कर इन्द्रजीत का नाम और यश पाया उसके प्रताप के सम्बन्ध में आपको शंका है ? महादेवी, समझाओ

सीता को कि मैं क्या हूँ ! त्रैलोक्य में मेरी शक्ति से लड़ने का साहस किसमें हो सकता है ? जिसके हृदय में दंडी, मुन्डी और जटाधारी ही निवास करते हैं उस निर्गुणी.....

सीता—(बीच ही में) चुप रह दुष्ट ! तुझे लज्जा नहीं आती कि मुझे एकान्त में पाकर हरण करता है और अपनी शक्ति का आडम्बर मुझे दिखलाना चाहता है ? अन्यायी भी कहीं शक्तिशाली हो सकता है, पापी भी कभी भक्त हो सकता है, कायर भी कहीं शूरवीर हो सकता है ? जिसने अपनी सारी लज्जा खो दी है, वह अपने सम्मान की बात मुख से कह सकता है ? जिसके सामने संन्यासी, चोर, भिक्षुक और कायर में अन्तर नहीं है, वह रावण.... वह रावण प्रभु से.....

रावण—(बीच में चिल्लाकर) सीते.....!

सीता—(मन्दोदरी से) महादेवी ! मुझे आज जीवन के अन्तिम क्षण दीख रहे हैं, आप यहाँ से चली जावें तो अच्छा है ।

मन्दोदरी—मैं ? (रावण से) महाराज ! नारी पर बल-प्रयोग करना अन्याय है ।

रावण—महादेवी, मैं तुमसे नीति की शिक्षा नहीं ले रहा हूँ ? रावण भगवान् शङ्कर को छोड़कर किसी को अपना गुरु नहीं मानता । यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम यहाँ से जा सकती हो ।

मन्दोदरी—मैं महाराज को अन्याय करने से रोकूँगी ।

रावण—(तीव्रता से) मुझे न्याय या अन्याय करने से कौन रोक सकता है ?

सीता—प्रभु के बाण ! जब वे तेरे सिरों को काटकर भगवान् के निषंग में प्रवेश करेंगे तो महात्मा लक्ष्मण उनसे पूछेंगे कि अन्यायी के रक्त का स्वाद कैसा है ? तब वे बाण...!

रावण—(बीच ही में क्रोध से) बाण नहीं, यह कृपाण ! देखो, यह चन्द्रहास ! (तलवार निकालता है) मेरा अपमान करने वाले के शरीर में यही चन्द्रहास एक क्षण में चमक कर मेरे सम्मान का आदर्श त्रैलोक्य में स्थापित करता है । चन्द्रहास ! देखती हो ! इसने कितने अपराधियों के सिर काटकर सारे ब्रह्माण्ड में बिखरा दिये हैं । सिरों की तरह असंख्य तारों को बिखराकर दूज का चन्द्र चन्द्रहास का अभिनय करता है । देखो इस तारों भरी रात को और इस चन्द्रहास को । मेरी भौंह के संकेत पर न चलने वाले को चन्द्रहास की धार पर चलना पड़ता है ।

सीता—(गहरी साँस लेकर) चन्द्रहास ! श्याम कमलों की माला के समान प्रभु की भुजा ! मेरे कंठ की यही शोभा है ! या तो प्रभु की भुजा हो या यह चन्द्रहास हो ! चन्द्रहास ! चन्द्र का शीतल हास ! प्रभु के विरह में उठी हुई ज्वाला को तू क्यों नहीं शान्त कर देता ? तेरी धार कितनी शीतल है, कितनी तीक्ष्ण है ! मेरे इस दुःख को दूर कर दे । तू अभी तक मृत्यु का दूत है, मेरे लिए जीवन का दूत बन जा !

रावण—(चिल्लाकर) तब तैयार हो । चन्द्रहास ! तुझे भी ऐसा शरीर न मिला होगा । तैयार हो वायु को काटता हुआ आकाश में चन्द्रमा की तरह उठ जा, और उल्कापात की तरह इस शरीर पर गिर... ..।

मन्दोदरी—(बीच में उठकर और विह्वल होकर) महाराज, महाराज यह नहीं हो सकता ! पुरुष नारी का इस प्रकार वध करे ! यह नहीं हो सकता ! यह अन्याय है ! यह नहीं हो सकता ! पहले मेरा वध कीजिये... ..मेरा वध... ..मेरा वध... ..।

सीता—(दुःख से) महादेवी, यह क्या... !

मन्दोदरी—(शीघ्रता से) नहीं, नहीं महारानी सीता ! (रावण से) महाराज, पहले मेरा वध कीजिये । यह अन्याय मैं अपने सामने नहीं होने दूँगी ! मैं आपको पाप में नहीं पड़ने दूँगी ।

रावण—(जोरों से साँस लेता हुआ स्वगत) अरे, यह क्या ! भगवान् शङ्कर की भी स्वीकृति नहीं ! मेरा त्रिपुण्ड्र गीला हो गया ! उस त्रिपुण्ड्र पर भगवान् शङ्कर के आँसू गिर पड़े । प्रभु, प्रभु..., मेरे शत्रु पर तुम्हारी इतनी करुणा क्यों ? तुम्हारी इतनी अनुकम्पा क्यों ? तुम कैसे मेरे भगवान् हो ! भक्त की इच्छा के प्रतिकूल ! तुम्हारी तो कभी ऐसे बान नहीं थी ! प्रभु शङ्कर ! मुझे बल दो कि मैं शत्रु से लड़ सकूँ ! चन्द्रहास से न सही तो अपनी नीति से ही लड़ सकूँ । जिस प्रकार तुम मेरे सभी कार्यों में सहायक हो उस प्रकार इस कार्य में क्यों नहीं होते ? लेकिन मैं लड़ूँगा । (प्रकट) महादेवी मन्दोदरी तुम्हारे कहने से मैं इस मास भी सीता को छोड़ता हूँ । एक मास क्षमा की अवधि और रहे । मैं ग्यारहवाँ महोत्सव मनाऊँगा । ग्यारहों रुद्र उसके साक्षी होंगे और यदि उस उत्सव पर सीता ने मेरा कहना नहीं माना तो फिर यही चन्द्रहास....! यही चन्द्रहास होगा और उसके सामने होगी सीता....सीता....। यही सीता, जो मेरे आराध्य देव द्वारा भी बचाई जा रही है । कहाँ हो शङ्कर ! आज तुम्हारा भक्त अपमानित हो गया । (शीघ्रता से बाहर जाता है । बाहर जाते-जाते शब्द धीमे होते जाते हैं) इस अपमान का बदला रावण के अपमान.... का....बदला ।

मन्दोदरी---- मैं भी जा रही हूँ महारानीसीता ! पतिदेव रुष्ट हो गए । यह त्रिजटा दासी तुम्हारे समीप रहेगी ।

(मन्दोदरी जाती है, सीता फिर एक बार सिसकी भरती हैं)

सीता—(चिन्तित स्वरों में) एक मास और....ग्यारहवाँ उत्सव....ग्यारह रुद्रों की साक्षी ...क्यों नहीं आज ही उस दुष्ट ने मुझे इस विरह दुःख से मुक्त कर दिया । एक मास और कैसे सहूँ ! प्रभु के विरह में एक-एक दिन युग के समान बीत रहा है, उस पर अभी एक मास की लम्बी अवधि और है । (सिसकी लेकर) प्रभु, अब मैं

जीवित नहीं रहूँगी। मैं जीवित नहीं रहना चाहती। तुम्हारी होकर तुमसे इतनी दूर हूँ, एक-एक क्षण मुझे चन्द्रहास की धार से भी अधिक तीक्ष्ण ज्ञात होता है। हाय, मेरा जीवन नष्ट क्यों नहीं हो जाता ? मेरे ही कारण मेरे प्रभु को व्यंग सुनने पड़ते हैं। मेरे ही कारण संसार देख रहा है कि मैं प्रभु की हूँ और प्रभु अभी तक नहीं आये। मैं कितनी अभागिनी (सिसकियाँ)

त्रिजटा—महारानी, आप दुःख न करें। आपकी सेवा के लिये मैं तैयार हूँ। मैं त्रिजटा हूँ। आपकी आज्ञाकारिणी सेविका.....

सीता—(विह्वल होकर) त्रिजटा, तुम मेरी सेवा करोगी ? तो यही सेवा करो कि लकड़ियाँ लाकर मेरे लिए चिता बना दो और उसमें आग लगा दो। अब प्रभु का यह विरह मुझे सहन नहीं होता। प्रभु के विरह की ज्वाला से चिता की ज्वाला शीतल होगी। मैं कहाँ तक दुष्ट रावण के दुर्वचन सुनूँ ? मैं प्रभु के शत्रु को अपनी आँखों के सामने कैसे देखूँ ? मेरे प्रेम को सार्थक करो और मुझे चिता में जल जाने दो। मैं अपने हृदय की वेदना कैसे कहूँ ?

त्रिजटा—महारानी, आप इतनी दुःखी क्यों होती हैं ? प्रभु राम आपका उद्धार करेंगे।

सीता—(चौंककर) क्या कहा ? फिर से कहो, देवी, फिर से कहो प्रभु.... प्रभु....

त्रिजटा—हाँ, हाँ, प्रभु राम आपका उद्धार अवश्य करेंगे। आपने ही तो कहा था कि प्रभु के बाण.....।

सीता—(विह्वल होकर) हाँ, कहती जाओ, देवी, कहती जाओ मैं प्रभु की बात सुनना चाहती हूँ।

त्रिजटा—यही तो आपने कहा था कि भगवान् राम के बाण जब रावण के सिरों को काटकर भगवान् के निर्घण में प्रवेश करेंगे तो महात्मा लक्ष्मण उनसे पूछेंगे कि अन्यायी के रक्त का स्वाद कैसा है ?

सीता—किन्तु यह कब होगा, देवि त्रिजटा !

त्रिजटा—भगवान् राम की कृपा होने में विलम्ब नहीं लगता ।

सीता—सच है देवी, किन्तु यदि एक मास से अधिक विलम्ब हुआ तो दुष्ट रावण मुझे मार डालेगा और मैं प्रभु के दर्शन भी न कर पाऊँगी, इससे अच्छा तो यही है कि तुम मुझे अभी ही चिता में जल जाने दो ।

त्रिजटा—यह सम्भव नहीं है महारानी, फिर रात आधी से अधिक ध्यतीत हो गई । अब किसके घर आग मिलेगी ? सभी लोग भोजन कर सो रहे होंगे ।

सीता—(आह भर कर) आह, यह भी सम्भव नहीं ! फिर सही प्रतिदिन की तीक्ष्ण बातें रात-दिन, दिन-रात ।

त्रिजटा—देवी सीता, आप धैर्य रखें । मैंने एक स्वप्न देखा है कि आप का उद्धार होगा ।

सीता—देवी आपके वचनों से मुझे धैर्य मिलता है, क्योंकि आप भी प्रभु के चरणों में प्रेम रखती हैं ।

त्रिजटा—मैं किस योग्य हूँ महारानी कि प्रभु राम के चरणों में प्रेम कर सकूँ ! यदि मेरे सिर की जटाओं में आजन्म राम नाम की—राम के नाम के अक्षरों की—र अ और म की रेखाएँ बनी रहें, तो इससे बड़ा सौभाग्य मेरा क्या होगा ?

सीता—मेरी विपत्ति की सहायिका देवी, तुम धन्य हो !

त्रिजटा—धन्य तो मैं तब होऊंगी जब महारानी, आपका उद्धार हो जायगा और मुझे विश्वास है कि दुर्भाग्य के बादल प्रभु की कृपा की किरणों को नहीं रोक सकते ।

सीता—तुम्हारा विश्वास अमर रहे !

त्रिजटा—अच्छा महारानी अब आप विश्वास कीजिये । रात थोड़ी ही रह गई है । अब मैं जाऊंगी । आप सो जाइए ।

सीता—मैं क्या सोऊंगी ! मेरी शय्या पर तो दुर्भाग्य ने कांटे बिछा दिये हैं, किन्तु तुम जाओ, तुम सोओ ।

त्रिजटा—प्रणाम करती हूँ, महारानी !

सीता—प्रभु अनार्यों पर कृपा करें ।

(त्रिजटा का प्रस्थान)

सीता—(गहरी साँस लेकर) यह सहायिका भी चली गई ! विधाता मेरे कितने प्रतिकूल हैं ! माँगने से आग भी नहीं मिलती, जिससे मैं चिता में जल जाऊँ ! मेरे हृदय की आग ही बाहर निकल आये तो मैं अपने को धन्य समझूँ । मैं अपना शरीर जलाना चाहती हूँ किन्तु मन ही जल कर रह जाता है । (कुछ देर ठहर कर) रात आधी से अधिक बीत चुकी है । सब लोग सो रहे हैं । साँसों के आने-जाने का शब्द सुनाई पड़ रहा है । ... मैं क्या करूँ ? भगवान् न जाने कहाँ होंगे ! किस वृक्ष के नीचे बैठकर मेरे विरह में दुखी होते होंगे । कंचन मृग का चर्म लाने का आग्रह करने से पहले मैंने उन्हे माला गूँथकर पहिनाई थी, वह इस समय भी उनके गले में पड़ी होगी, उसके फूल मेरी ही तरह मुरझा गये होंगे । किन्तु वे फूल मुझसे अधिक भाग्यशाली हैं, क्योंकि मुरझाने पर भी वे प्रभु के हृदय से लगे हुए हैं और मैं यहीं मुरझाई हुई दुष्ट रावण की अशोक बाटिका में

हैं ! (सिसकी भरती हैं) प्रभु, मुझे क्षमा करो ! मैंने कंचन मृग का चर्म ही क्यों माँगा ? तुमने मृग की ओर देखकर अपना परिकर बाँध, हाथ में धनुष संभाल कर तीक्ष्ण बाण की नोक को गहरी दृष्टि से परखा । बाण की ओर देखते हुए तुमने लक्ष्मण को रक्षा का भार सौंपा और तीव्र गति से कंचन मृग के पीछे दौड़ पड़े... .. ! संसार जिनके पीछे दौड़ता है वे मेरे प्रभु कंचन मृग के पीछे दौड़े ! मेरे कारण... ..आह प्रभु ! तुम कैसे हो और मैं कैसी हूँ ! आज मेरा कष्ट कंचन मृग बन जाता और तुम उसके पीछे दौड़ते ! यह कष्ट मैं कैसे सहूँ ! लक्ष्मण तुम्हारा कुछ दोष नहीं । तुम कुटी से चले गये, मुझे क्षमा करो । प्रभु को समझा दो कि सारा दोष सीता का है । इस लिए आज मेरे समीप कोई नहीं है । (पेड़ के पत्तों के हिलने का शब्द) वायु बहकर निकल जाती है । एक क्षण रुक कर मेरा सन्देशा प्रभु के पास नहीं ले जाती । आकाश में इतने अंगारे फैले हुए हैं । इनमें से कोई भी नीचे गिर जाता ! यह चन्द्रमा भी ज्वालाओं में जल रहा है । वह एक लपट नीचे की ओर फेंक दे तो मैं उस आग में जल जाऊँ । क्या मैं इतनी अभागिनी हूँ कि चन्द्रमा की एक लपट भी पाने की अधिकारिणी नहीं ? वृक्ष 'अशोक' तुम्हीं मुझ पर दया करो । अपने नाम को सार्थक करते हुए मुझे भी 'अशोक' बना दो । मेरा शोक दूर कर दो । तुम्हारे नये-नये पत्ते आग की तरह लाल हैं । इन्हीं से अग्नि-कण बरसा कर मेरे शरीर का अन्त कर दो । प्रभु, तुम्हारे त्रिरह में जल कर भी आज मैं जीवित हूँ ! मेरे जीवन को... .. धिक्कार है... .. (सिसकियाँ) (इसी समय श्री हनुमान जी अशोक वृक्ष से श्रीराम की मुद्रिका नीचे गिरा देते हैं । मुद्रिका के गिरने का शब्द होता है)

सीता—(चौंककर) यह कैसा शब्द ? क्या आकाश से कोई तारा गिरा या अशोक वृक्ष ने मेरे जलने के लिए अंगार डाल दिया है ? (देखकर) वैसी ही तो कुछ चमक है । देखूँ (सीता जी उठकर मुद्रिका उठाती हैं) यह क्या ? यह तो मुद्रिका है ? यह मुद्रिका किसकी है... .. ? अरे इस पर तो प्रभु का नाम अंकित है ? ओह, यह मुद्रिका तो प्रभु की है... .. ! किन्तु यह यहाँ कैसे ? यह यहाँ कैसे आई ? इसे कौन लाया ? यह तो प्रभु के हाथों में मैंने पहिनाई थी । उनसे कभी एक क्षण दूर नहीं हुई । फिर यह मुद्रिका यहाँ कैसे... ? प्रभु, तुम कहाँ हो ! किसी शत्रु ने तो... नहीं, नहीं, यह नहीं हो सकता, यह नहीं हो सकता । भगवान् को कौन जीत सकता है ? वे तो अजेय हैं, फिर यह मुद्रिका... मुझे छलने के लिए किसी ने माया से तो इसे नहीं बना दी ? किन्तु माया से, त्रिभुवन की माया से यह बनाई भी कैसे जा सकती है ? नहीं, नहीं, यह मुद्रिका उन्हीं की है । मेरे प्रभु की है । मुद्रिके ! बोल, तू यहाँ कैसे आई ? प्रभु और लक्ष्मण कुशलपूर्वक तो हैं ? तूने प्रभु को कैसे छोड़ दिया ? ओह, उन्हें सब छोड़ देते हैं ! नगर में लक्ष्मी ने उन्हें छोड़ दिया, वन के बीच में मैंने उन्हें छोड़ दिया और अब मेरी दशा के मार्ग में तूने उन्हें छोड़ दिया ! अब आज से नारियों पर कौन विश्वास करेगा ? मेरे प्रभु की मुद्रिका (सीताजी सिसकियाँ लेती हैं, इसी समय अशोक वृक्ष पर से श्री हनुमान के शब्द)

रघुकुलमणि रामचन्द्र, दशरथ-सुत रामचन्द्र, सीतापति रामचन्द्र, वानर-प्रिय रामचन्द्र ।

सीता—(आश्चर्य से चौंककर) यह कौन ?

हनुमान—श्री रामचन्द्र के चरण-स्पर्श से अहिल्या पवित्र हो गई । रामचन्द्र के हाथों से शिव धनुष तिनके के समान टूट गया, श्री रामचन्द्र की कृपा से चित्रकूट भी साकेत बन गया, श्री रामचन्द्र की शक्ति से खरदूषण का विनाश हुआ, श्री रामचन्द्र की भक्तवत्सलता से जटायु ने

परम गति प्राप्त की और श्री रामचन्द्र की कृपा से मुझे उनके चरणों की भक्ति ! (कंठ गद्गद् हो जाता है)

सीता—जिसने मेरे कानों में इस अमृत-वाणी की वर्षा की है वह मेरे सामने प्रकट हो ।

(अशोक वृक्ष से कूदकर श्री हनुमान सीता जी के सामने आते हैं और प्रणाम करते हैं, सीता जी आश्चर्य चकित हो मुख फेर कर बैठ जाती हैं ।)

हनुमान—मातु सीता ! मेरा सादर प्रणाम स्वीकार हो । मैं करुणानिधान श्रीराम की शपथ लेकर कहता हूँ कि मैं श्रीराम दूत हनुमान हूँ । आप मुझसे मुख फेर कर न बैठें । मैं पुत्र की भांति आपके दर्शन करना चाहता हूँ, मैं ही यह मुद्रिका लाया हूँ । प्रभु राम ने मुझे आपकी सेवा में भेजा है । आप मुझे श्रीराम का दूत मानलें, इसलिए उन्होंने मुद्रिका देने की कृपा की ।

सीता—नर और वानर का साथ कैसे संभव है ।

हनुमान—मातुश्री ! दुष्ट रावण ने जब आपका हरण किया तो आपने अपने कुछ वस्त्र और आभूषण नीचे फेंक दिये । वे वानरराज सुग्रीव को प्राप्त हुए । मैं वानरराज सुग्रीव का सहायक हूँ । जब लक्ष्मण सहित श्री राम आपको खोजते हुए उस स्थान पर आये तो दोनों में मित्रता हुई । सुग्रीव की रक्षा के लिये श्री राम ने उसके भाई बालि का बध किया, फिर सुग्रीव की सहायता से श्रीराम ने आपकी खोज में असंख्य वानर भेजे । मैं ही इतना सौभाग्यशाली हूँ कि आज आपके चरणों के दर्शन कर रहा हूँ । मैं रामदूत हनुमान हूँ मातुश्री !

सीता—तुम्हारे वचनों पर मुझे विश्वास होता है । तुम मन, वचन और कर्म से प्रभु के दास हो । कहो मेरे प्रभु कैसे हैं और वीर लक्ष्मण कैसे हैं ? मेरे प्रभु तो इतने कोमल-हृदय हैं, करुणासिन्धु हैं, उन्होंने कैसे

इतनी निष्ठुरता की कि अभी तक नहीं आये ? क्या कभी वे मेरा स्मरण करते हैं । उन्होंने मुझे बिल्कुल ही भुला दिया ! हाय, उन्होंने मुझे बिल्कुल भुला दिया !

हनुमान—नहीं मातुश्री, वे आपको कभी नहीं भूल सके । वे तो आपका सदैव स्मरण करते हैं । वे सब तरह से कुशल हैं, यदि उन्हें दुःख है तो केवल आपका ही दुःख है । वीर लक्ष्मण भी सकुशल हैं । आप किसी प्रकार की चिन्ता न करें । आपके प्रति प्रभु राम के हृदय में जो प्रेम है, उसकी थाह नहीं ली जा सकती ।

सीता—क्या कभी मेरे नेत्र उनके सुन्दर श्याम शरीर को देखकर शीतल होंगे ? ओह, मैं कितनी अभागिनी हूँ !

हनुमान—मातुश्री, प्रभु राम जिनका स्मरण करते हैं, उनके लिए अभाग्य कैसा ? दुष्ट रावण का सिर काटने के लिए श्रीराम के तरकस में बाण कसकने लगे हैं । श्रीराम ने इस दिशा में प्रस्थान कर दिया है । शीघ्र ही यह दुःख का अन्धकार दूर होगा । प्रभु राम की कृपा का सूर्य उदय हो चला है । आप कुछ दिन और धैर्य धारण करें, कपिसेना के साथ श्रीराम आवेंगे और रावण को मार कर आपका उद्धार करेंगे ।

सीता—(आनन्द-विह्वल होकर) प्रभु मेरा उद्धार करेंगे ! मेरा उद्धार करेंगे ! ओह, आज मैं कितनी सुखी हूँ प्रभु, आज मैं तुम्हारे आने के समाचार से कितनी सुखी हूँ !

(इसी समय प्रभात का मंगल वाद्य और समय की सूचना बजती है ।)

सीता—(प्रसन्नता से) प्रभात की इस मंगल वेला में, प्रभात की इस मंगल ध्वनि में, मेरी मंगल कामना सफल हो... ! मेरे प्रभु की जय हो !

(मंगल वाद्य बजते-बजते वायु में लीन हो जाता है ।)

स्त्री का हृदय

(श्री उदयशंकर भट्ट)

हिन्दी साहित्य के नाटककारों में श्री उदयशंकर भट्ट को प्रचुर प्रसिद्धि प्राप्त है। सन् १९३८ से एकांकी के क्षेत्र में उन्होंने पदार्पण किया। उनका प्रथम एकांकी नाटक “दस हजार” था। इसका प्रकाशन ‘हंस’ के एकांकी अंक में हुआ था। इस समय तक उन्होंने अनेक एकांकी नाटकों की रचना की है। उनको कला क्रमशः प्रौढ़ता तथा परिपुष्टता प्राप्त करती जा रही है। भट्ट जी के एकांकी नाटकों में मनोभाव बड़ी सरलता के साथ प्रकट हो जाते हैं। उनके एकांकियों में संग्रहीत घटनाओं में कौतूहल भले न हों, किन्तु स्वाभाविकता के साथ जीवन के चित्रों को स्पष्ट करने में उन्हें बड़ी सफलता मिली है।

भट्ट जी मनोवैज्ञानिक एकांकी की रचना करने में कुशल हैं। उनकी दृष्टि व्यक्तिवाद तक ही नहीं निर्धारित है वरन् वे “मनोवैज्ञानिक ढंग से समाज के भयानक हिंसात्मक रूप को अपनी शक्तिशालिनी लेखनी से कोमल बनाकर धुले हुए कपास का निर्मल तथा भव्य स्वरूप दे देते हैं।”

भट्ट जी करुण परिस्थितियों के चित्रकार तथा कलाकार हैं। उन्होंने अधिकांश दुःखान्त नाटकों की रचना की है। सच यह है कि भट्ट जी जीवन में अन्तर्निहित विषमताओं तथा विडम्बनाओं को विकसित कर उन्हें तोक्षण अस्त्र बना देते हैं जो सुख के समस्त वैभव और छटा को क्षण में ही नष्ट कर देते हैं।

पात्र

मि० कपूर	:	यशवंत के मामा
यशवंत	:	जगदीशराय का लड़का
गुरुनारायण	:	जेल के सुपरिंटेंडेंट
अंजना	:	यशवंत की माँ
शोभा	:	यशवंत की बहन
सुषमा	:	गुरुनारायण की लड़की
राजरानी	:	„ „ स्त्री

साधु, कैदी आदि .

स्त्री का हृदय

पहला दृश्य

(एक साधारण गृहस्थ के मकान का कमरा । कमरे की लम्बाई-चौड़ाई १५' X १२' । पूर्व की तरफ से पश्चिम को खाट पर एक स्त्री लेटी है । आयु लगभग ३३ वर्ष । गौर वर्ण, पर दुर्बल । अभी लम्बी बीमारो से उठी है । दाहिनी तरफ को आमने-सामने दो कुर्सियाँ । उसके पास एक पुराने ढंग का मोढ़ा रक्खा है । कमरे में कोई सजावट नहीं है । सिरहाने की तरफ एक छोटी मेज पर दवा का सामान है । एक शीशे का गिलास, कुछ शीशियाँ, थर्मामीटर, टाइमपीस, ग्लूकोज का डिब्बा, रुई, बोरिक तथा मलहम की डिब्बियाँ । पैरों की तरफ एक लोहे की जालीदार आलमारी पर एक सन्दूक । खाट के साथ दीवार पर कलेंडर । पूर्व और पश्चिम की तरफ बराबर दो चित्र टंगे हैं, हाफसाइज के फ्रेम जड़े हुए । पूर्व की ओर एक चित्र है । इस घर के स्वामी जगदीशराय का और बराबर उसके पुत्र यशवन्त का । समय दिन के लगभग दस बजे । पूर्व की तरफ अंजना के भाई मिस्टर कपूर बैठे हुए हैं, उनके सामने जगदीशराय का पुत्र यशवन्त । दोनों क्षोभ में भरे बैठे हैं दाँत काटते हुए ऐठन लिए । स्त्री दूसरी तरफ चुप पड़ी है ।)

मि० कपूर—मैं इस आदमी को पहले से ही जानता था। ब्याह से पहले ही। तभी तो कहते हैं दुष्ट का संग कभी न हो। न जिसके कुल का कोई ठीक न ठिकाना, जरा पढ़ा-लिखा देखा और ब्याह कर दिया। हुश्। (दाँत पीस कर जमीन पर जोर से पैर मारता है)

यशवंत—(उसी ढंग से) हम लोगों का इस मामले में सिर ही नीचा हो गया है। जो देखता-सुनता है, हैरान रह जाता है। और सच तो यह है कि मुझे बार-बार छिपाना पड़ता है अपने आपको।

मि० कपूर—अरे साहब, वह तो कहो कि दूरी की वजह से घर के कुछ आदमियों के सिवा किसी और को कुछ मालूम नहीं हुआ। नहीं तो साँस लेना मुश्किल हो जाता और शर्म के मारे पानी हो जाना पड़ता। कोई बात है ? छिः। (एक टाँग पर दूसरी टाँग रखता है)

यशवंत—होस्टल तथा कालेज में सभी जगह मुझे यह बात छिपाकर रखनी पड़ी। दो-दो मुसीबतें एक साथ.....।

मि० कपूर—(स्वस्थ होकर) अभी तुम्हारा कोर्स कितना बाकी है ?

यशवंत—अब तो सिर्फ प्रैक्टिकल ही बाकी है। सौभाग्य से हमें जहाँ प्रैक्टिकल करने को मिला है वे मेरे मौखिक परीक्षक भी थे। बहुत ही सज्जन आदमी हैं। पन्द्रह दिन बाद मैं फ्री हो जाऊँगा। इसके बाद शायद कोई जगह भी मिल जाय।

मि० कपूर—तो देखो खर्च-बर्च की तंगी न उठाना। घर से मंगा लेना। अंजना का भी ख्याल रखना। शोभा की पढ़ाई की क्या हाल है ?

यशवंत—इस बीमारी में वह सिलसिला तो कुछ खराब जरूर हो गया है।

मि० कपूर—खैर, अब उसको पढ़ाई ठीक तरह से चल सकेगी ।
(अंजना की ओर देख कर) अब तीन महीने अस्पताल में रहकर ठीक
हुई हो । (पहले जैसा रूप) गुस्सा तो ऐसा आता है गोली मार दूँ ।
अच्छा हुआ दो साल की सजा हो गई बच्चू को । वह तो कहो कि जज
ने रियायत की, नहीं तो फाँसी होती । (अंजना करवट बदल कर उधर
देखती है और बातें सुनती है ।)

अंजना—(कठिनाई से हाथ से टाँग उठाकर) हाय, मालूम होता
है यह मेरी टाँग ठीक न होगी । (कपूर की ओर) भैया, सचमुच तुमने
मुझे बचा लिया । नहीं तो जाने क्या हालत होती हम लोगों की । (चुप
हो जाती है)

मि० कपूर—हम लोगों का उससे कोई संबंध नहीं है । कैद काटकर
आये हुए आदमी की अब यहाँ कोई जरूरत नहीं है ।

यशवंत—समाज में उनको साथ रखने से हम लोगों की बदनामी
भी है । आखिर हमें भी तो मुँह दिखाना है, सूर्यादा से रहना है ।

मि० कपूर—सो तो है ही । मेरे यहाँ भी उसका अब प्रवेश नहीं
हो सकता ।

यशवंत—(आँखें पोंछ कर) सबसे बड़ा अपमान तो हुआ मेरा ।
इतने बड़े आदमियों से जान पहचान । आफिसर्स को यदि यह मालूम हो
जाय कि यशवंत का बाप दो साल की कैद में है तो शायद नौकरी से
भी हाथ धोना पड़े ।

मि० कपूर—तो तुम इसका जिक्र ही मत करो । कहो, हमारा कोई
नहीं है वह ।

अंजना—तुम उनकी चर्चा ही मत करो । किसी को बतलाओ ही
मत । मैं तो सचमुच मर गई थी । इन बच्चों के भाग से कुछ दिन जीना
था जो मौत के मंत्र से निकल आई ।

मि० कपूर—मैंने तो जिस समय सुना कि जगदीश ने अंजना को मार-मार कर अधमरा कर दिया, उसी समय मैंने निश्चय किया कि इस बार उसको फाँसी दिला के ही छोड़ूँगा। इतना पढ़ा-लिखा और इतना बेबकूफ शायब लालटेन लेकर भी दूँढ़ने से न मिले !

यशवंत—उनकी आदतें तो पहले ही खराब थीं। रोज शाम को दफ्तर से शराब पीकर लौटते। जुए के लिए माँ से रुपये माँगते। न मिलने पर उन्हें पीटते। एक दिन मुझे ऐसा क्रोध आया कि यदि माँ न रोकतीं, तो मैं मार बैठता। बाप का अर्थ यह तो नहीं है कि किसी की कोई इज्जत ही न करे। और पिछले छे मास से मैं बोलता थोड़े ही था। (एकदम चुप-चाप सामने टंगी तस्वीर उतार कर बाहर पटक देता है) अब इसकी यहाँ कोई जरूरत नहीं है।

मि० कपूर—ठीक तो है, हटाओ इस कूड़े को। ऐसे नालायक को भूल जाना ही अच्छा।

अंजना—और तुम यह देखो भैया कि मेरे पास एक गहना न छोड़ा, सुसराल का तो भला था ही कितना, मेरे पीहर का भी एक-एक करके सब ले लिया; नहीं देती तो मारते थे। न जाने हमारे समाज का कानून कैसा है, नहीं तो अब से कभी पहले सम्बन्ध त्याग देती। कालेज की डिबेट में मैंने एक बार कहा भी था।

मि० कपूर—नारियों के साथ यह बड़ा अन्याय है। समाज को इसका कोई न कोई प्रतिकार अवश्य करना होगा। ऐसे हत्यारे, जालिम पति को स्त्री के ऊपर अंकुश रखने का कोई अधिकार नहीं है।

यशवंत—यह भी आदमी में बीमारी का एक लक्षण है। यह 'इन्सेनिटी' की एक किस्म है। हमारे यहाँ साइकोलोजी में जहाँ पागल मनुष्यों के लक्षण बताए गए हैं वहाँ बहुत क्रोधी, शराबी, एकदम भड़क

उठने वाले आदमियों को भी समाज से दूर रखने को कहा गया है। इसी तरह व्यभिचारी तथा अत्याचारी मनुष्य भी एक तरह के बीमार ही कहलाते हैं।

मि० कपूर—(हाथ की अँगुलियों पर चुटकियाँ बजाते हुए) यह सब बातें स्वतन्त्र देशों में होती हैं। वहाँ सरकार समाज की व्यवस्था को ठीक रखने के लिये नये-नये स्वास्थ्य-विभाग खोलती है। शादी होने के पहले वर-वधू की डाक्टरी परीक्षा भी होती है।

अंजना—लेकिन कालेज में तो वे... ..जाने दो। (मुँह फेर लेती है)

मि० कपूर—तुम क्या जानो, स्त्रियाँ सीधी-सादी होती हैं। रूप और बाहरी गुण देखा; बस सुग्घ हो गई। असल बात तो यह है कि यह कोर्टशिप भी वर-वधू के पहचानने का कोई ठीक उपाय नहीं है। जिस समय तुम लोग इंटर में थे, मैं नवें में पढ़ रहा था। इसलिये किस तरह तुम लोगों की मित्रता प्रारम्भ हुई यह मुझे मालूम नहीं।

यशवंत—नान्सेन्स।

अंजना—हमारे क्लास में तो हमेशा फर्स्ट-सेकन्ड स्टेन्ड करते रहे हैं। डिबेट में, लेक्चर में हमेशा प्राइज पाते रहे हैं। मुझे क्या मालूम कि यह आदमी इतना भयंकर निकलेगा। (क्रोध से चेहरा लाल हो जाता है)

यशवंत—उस समय इनके माँ-बाप भी थे !

अंजना—नहीं। ट्यूशन करके पढ़ते थे जी, बड़ी मुसीबतों में। मेरे कहने पर ही पिता जी ने इनका ट्यूशन मुझे रखवा दिया था।

मि० कपूर—आश्चर्य है, इतना बुद्धिमान आदमी ऐसा निकला ।

यशवंत—उसकी एक वजह है, कभी-कभी गरीबी में आदमी की बुद्धिमत्ता भी समाप्त हो जाती है । कभी-कभी जो लोग विद्यार्थी-जीवन में बहुत अच्छे होते हैं, बाद में जाकर 'डल' हो जाते हैं । यह भी एक मनोवैज्ञानिक बात है । दिमाग पर अभावों की भी प्रतिक्रिया होती है । अच्छा खाना न मिलने, अस्वास्थ्यकर परिस्थितियों में रहने या चिन्ता बहुत करने से मनुष्य के मस्तिष्क की शक्तियों का विकास रुक जाता है । उनमें न बुद्धि रह पाती है, न स्फूर्ति, न प्रेरणा, और वेग के प्रभाव से तो बुद्धि दूषित हो उठती है । उस समय वे सब जानतन्तु—भाव की इच्छा को पूरा करने के लिए दौड़ते हैं । उस अवस्था में मनुष्य न पाप देखता है, न पुण्य; न बुरा, न भला ।

मि० कपूर—तुमने तो बहुत कुछ पढ़ डाला है ।

यशवंत—यह तो हमारे कोर्स की बातें हैं । हमें यह सब बातें जाननी ही चाहिये । मनोविज्ञान तो हमारे यहाँ का खास विषय है । इसमें व्यक्ति को पहचानने और उसको 'रीड' करके ठीक करने का सदा अवसर रहता है । इसी तरह चोरी करने, झूठ बोलने, गाली देने तथा क्रोध करने की आदतें भी एक तरह से बीमारी में ही गिनी जाती हैं ।

अंजना—(एकदम हाथ जोड़ कर) भैया, तुमने मुझे उबार लिया । नहीं तो जाने क्या हालत होती । तुम्हारी ही कृपा से यह पढ़ लिख गया है । लड़की भी पढ़ ही जायगी । अब नवें में है । मुझे डर है, कहीं इस साल फेल न हो जाय । मेरा तो भाग ही मरा फूटा है । गहना नहीं, पत्ता नहीं, मकान नहीं, रुपया नहीं, सब उजाड़ दिया । नहीं तो डेढ़ सौ में मजे से गुजर चल रही थी । एक-दो बार मैंने सोचा, लाओ

नौकरी कर लूँ, पर नौकरी भी तो नहीं करने दी। कहते थे—‘मेरे होते हुए नौकरी क्यों करती हो। पति का कर्त्तव्य है कमाना और स्त्री का कर्त्तव्य है गृहस्थी का पालन।’ कुछ भी कहो.....जाने दो मैं उस दुष्ट का नाम भी न लूँगी।

यशवंत—हाँ, मेरे सामने उनका नाम न लो। मैं उनको पिता नहीं कहता। जिसने हमें दर-दर का भिखारी बना दिया। समाज की दृष्टि में गिरा दिया। कभी उनमें कोई गुण होंगे; पर अब तो वे पागल हो गये हैं। अच्छे होते तो नौकरी ही क्यों जाती? आज छै मास से खाली बैठे थे। निकाल दिये गये, हमारा दुर्भाग्य !

मि० कपूर—यह ठीक है, पर अंजना भी गलत नहीं कहती यशवन्त ! न मालूम इन दिनों उनकी प्रवृत्ति ऐसी कैसे हो गई, आश्चर्य है। कहते हैं नौकरी उन्होंने साहब से न पटने के कारण छोड़ दी थी। फिर भी घर का ख्याल करके ही उस आदमी को कुछ भुक्ना चाहिए था। असल में शराब ने उसे तबाह कर दिया। अच्छा, पहले तुम यह बताओ, (टाइमपीस को ओर देखकर) मुझे अभी बारह की गाड़ी से जाना है, खर्च का क्या हाल है ? (जेब से निकाल कर) रुपये तो तुम्हारे पास अब क्या होंगे ? खर लो, यह १००) हैं। इस समय किसी तरह काम चलाओ। (रुपया देता है)

अंजना—नहीं भैया, अब रुपयों की जरूरत नहीं है। मैं ठीक होते ही किसी स्कूल में नौकरी कर लूँगी। मैंने तुम्हें बहुत कष्ट दिया है। (शोभा का दलिये की कटोरी और जगदीशराय की तस्वीर हाथ में लिए प्रवेश)

शोभा—(जोर से) यह बाबू जी की तस्वीर बाहर किसने फेंक दी ? देखो तो, शीशा टूट गया है।

यशवंत—फेंक दे उधर । यहाँ क्यों ले आई ? यह बाबू जी की नहीं, हत्यारे जी की है, जिसने हमारी माँ को पागलपन में आकर मार ही डाला था । ला, सुभे दे । (लेकर बाहर फेंक देता है)

मि० कपूर—बेटी, क्या तुझे यह नहीं मालूम कि यह आदमी नहीं, हत्यारा है ? वह तो कहो, तुम लोगों के भाग्य थे, जो मौत के मुँह से तुम्हारी माँ निकल आई ।

अंजना—दलिया ले आई । (हाथ में लेकर) और तुम देखो भैया, कि इस शोभा मरी ने उनका क्या बिगाड़ा था, एक दिन इसे भी पीटते-पीटते अधमरा कर दिया ।

शोभा—भाभी, उसमें मेरा कसूर था । (उसकी आँखों में आँसू भर आते हैं । दलिया हाथ में देकर एकदम बाहर निकल जाती है ।)

अंजना—देखो यशवंत, तस्वीर.....नहीं नहीं, हटाओ मेरे सामने से..... ।

मि० कपूर—अंजना बहन, तुम भी पूरी..... । अच्छा, अब तुम कभी मुलाकात को जाओगी क्या ?

यशवंत—मैंने तो निश्चय किया है, मैं तो ऐसे आदमी का मुँह न देखूँगा । यह क्या ? नोनसेन्स, जिस आदमी ने तुम्हें इतनी तकलीफ दी उसके लिए.....?

अंजना—नहीं, बलिया गरम था । शोभा हाथ पर धरकर चली गई । मैं क्यों रोती भला ? (दृढ़ता दिखाती है)

मि० कपूर—स्टुपिड, अच्छा मैं चला ।

अंजना—तो, खाना तो खालो भैया । दो बजे तक पहुँचोगे, उस समय खाना कहाँ होगा ?

यशवंत—न हो चाय एक प्याला ले लीजिए । शोभा !

मि० कपूर—नहीं, कुछ इच्छा नहीं है । डाक्टर ने काफी खिला-
मिला दिया है । तुम दवा लो न ?

यशवंत—ग्यारह बजा चाहते हैं । अच्छा यह दलिया खा लो । फिर
सही । हर काम टाइम पर ही होना चाहिये । माँ, मामा जी से यह बात
तो कह दो ।

मि० कपूर—क्या बात है ?

अंजना—हाँ, एक बात तो कहनी रह ही गई । यहाँ एक बड़े आदमी
हैं शायद । कहीं दफ्तर में सुपरिंटेंडेंट हैं न भैया ? उनकी एक
लड़की है ।

मि० कपूर—समझ गया ।

अंजना—उन्होंने सुभे और यशवंत को एक दिन चाय के लिए
बुलाया है । वे यशवंत को बहुत चाहते हैं ।

यशवंत—वे हमारे औरल एगजामिनर भी रह चुके हैं । मैंने उन्हें
आपका परिचय दिया । आदमी वे बहुत सज्जन हैं । बड़े सभ्य और धनी;
उन्हें इतना तो मालूम है कि माँ बीमार हैं । एक बार वे खुद देखने आना
चाहते थे । कार लेकर चले भी; पर मैंने ही टाल दिया । यहाँ लाकर कहाँ
बिठाता, घर तो आप देख ही रहे हैं ।

मि० कपूर—हाँ, बड़े आदमियों के लिए सब सामान बड़ा होना
चाहिये । अभी हमारे यहाँ उन दिनों डिप्टी कमिश्नर आये थे । उस समय
उनकी आवाभगत में दो सौ तो सफाई में खर्च हो गये । एक हजार सगे
पार्टी में । तो हो आओ न ?

अंजना—ठीक होते ही जाऊँगी । जाने-आने में नौकरी भी शायद
यशवंत की जल्दी लग जाय । देखूँ, क्या कहते हैं ।

मि० कपूर—हाँ, इस लाइन में तो जान-पहचान है नहीं। कमिश्नर से कह सकता हूँ, पर वह भी बड़ा आदमी है, करे न करे।

अंजना—फिर भी अवसर देखकर कहने में हर्ज ही क्या है ? तुम्हारा ही लड़का है।

मि० कपूर—अरे तो यह भी कहने की बात है, बहन ? अच्छा, कोशिश करूँगा। मैं चला। (बाहर निकलता है)

अंजना—(हाथ जोड़कर) दया रखना भैया ! मुझे तुम्हारा ही आसरा है।

मि० कपूर—(लौटकर) न हो चलकर दो-चार महीने रह न आओ घर पर। रही तुम्हारी भाभी की—सो अब तो वह भी मान जायेंगी। बल्कि उन्होंने मुझसे कहा भी था।

अंजना—अब ठीक होकर ही किसी दिन आऊँगी। (कपूर चला जाता है। उसके साथ यशवंत भी उठ जाता है। अंजना दलिया देखती रहती है। शोभा आती है)

शोभा—(आँखें पोंछकर) अभी तुमने दलिया नहीं खाया माँ !

अंजना—खा रही हूँ। (उसके चेहरे की ओर देखकर) रो रही है पगली ? मैं ठीक हो जाऊँगी। हाय, न जानें टाँग को क्या हो गया ? डाक्टर कहता था कटवा दो, पर कटवाकर काम कैसे होता, लंगड़ी न हो जाती ?

शोभा—(आँखों में आँसू भरकर) अब डाक्टर क्या यहाँ रोज आया करेगा ?

अंजना—डाक्टर तो क्या आवेगा कंपाउण्डर आवेगा ड्रॉसिंग करने। कह रहा था दो-चार दिन में चलना शुरू करना। वैसे पहले से तो आराम है।

शोभा—बाबू जी को.....

अंजना—हाँ, यह सब तेरे बाबूजी की मेहरबानी है। जान ही ले ली थी दुष्ट ने। यदि भाई का घर न होता तो.....(आँखों में आँसू भर आते हैं) ईश्वर उसे सुखी रखे।

शोभा—अब आटा तो है नहीं, खाना कैसे बनेगा ?

अंजना—हम लोग भिखारी हो गये हैं। नौकरी गई, रुपया गया और खाने के भी लाले पड़ गए हैं।

शोभा—असल में नौकरी छूटने से बाबूजी की आदत खराब हो गई थी। अगर साहब के कहने के अनुसार वे भी चोरी, रिश्वत लेते तो ठीक रहता। इसमें बाबूजी का क्या अपराध था माँ ?

अंजना—फिर भी आदमी को देख-भाल कर चलना चाहिये। यदि रिश्वत लिये बिना काम नहीं चलता था तो लेते। मैंने तो कहा कि साहब को खुश रखो, चाहे कुछ करना पड़े।

शोभा—तो तुम बुरे काम के पक्ष में हो। रिश्वत लेना भी तो बुरा काम ही है।

अंजना—(स्तब्ध-सी होकर दलिया खाती हुई) तू इन बातों को क्या समझे ? नौकरी छोड़ने के बाद से घर की क्या हालत हो गई है ? पैसे-पैसे को तंग हैं हम लोग। वह तो कहो, भाई का घर था, नहीं तो कौन जाने भीख ही माँगनी पड़ती। तुम्हारी तो जिदगी ही खराब हो गई बेटी ! (शोभा चुप रहती है; खाकर बर्तन खाट के नीचे रखती हुई) तू बोलती क्यों नहीं है ?

शोभा—(रुककर) क्या ? मेरी तो कुछ समझ में नहीं आता।

अंजना—तुझे मेरा कष्ट नहीं मालूम होता ?

शोभा—(वेग से) जब बाबूजी कमाते थे तब सब को अच्छे लगते थे । यदि न्याय की रक्षा के लिए उनकी नौकरी छूट गई, उन्हें व्यसन लग गया, तो वे ऐसे कड़ुए हो गए कि किसी को फूटी आँखों नहीं सुहाते । और अब उन्हें जेल भेजकर तो सबका जी ठंडा हो गया ।

अंजना—(क्रोध से) चुड़ैल, छोटे मुँह बड़ी बातें करती है ? क्या हमने उन्हें जेलखाने भेजा है ? मालूम होता है माँ से तुम्हे कोई ममता नहीं है । उन्होंने जो तुम्हे मार ही डाला था, और मैं जो तीन महीने अस्पताल में पड़ी रही उसका तुम्हे कोई दुःख नहीं है । दुःख तो केवल बाबूजी का है, क्यों ?

शोभा—यदि तुम और भैया चाहते, तो वे बच सकते थे ।

अंजना—मेरी इतनी बातों का यही जवाब है ?

शोभा—(रोककर मुँह फेरती हुई) क्या जानूँ ? (उठकर चली जाती है)

अंजना—धृणा, ममता, प्रेम...नहीं मैं उन्हें नहीं चाह सकती । नहीं चाह सकती । झूठ है...।

(परदा गिरता है)

दूसरा दृश्य

[कोठी में आधुनिक ढंगसे सजा हुआ विशाल कमरा । दीवारों पर कई प्रकार की छोटी-बड़ी तस्वीरें, नीचे काश्मीर का बना हुआ मखमली कालीन । दोनों ओर दो सोफा-सेट एक ही रंग के । कानिस्त पर जालीदार कपड़ा, दोनों तरफ धूपदानों में धूप-बत्तियाँ जल रही हैं । बीच में बड़े गुलदस्ते में नर्गिस के फूलों का गुच्छा । कमरे में पूर्व-उत्तर के कोने में छोटी मेजों पर गुलदस्ते रखे हैं । दक्षिण की तरफ बड़ी कोच पर रायसाहब गुरुनारायण बैठे हुक्का पी रहे हैं । कमरे के दरवाजों पर रेशमी जाली के पर्दे उठाये हुए हैं । उत्तर की तरफ के दोनों दरवाजे खुले हैं । सामने बरामदे में दो-तीन मोढ़े रखे हैं । दरवाजों में बेलें फैल रही हैं । एक दरवाजा भीतर के मकान में जाता है । गुरुनारायण ऊँचे कद के, दोहरे बदन के व्यक्ति हैं । आयरिश लट्टे की लौटदार कफ की कमीज और जोन की सफेद पतलून पहने हैं । सिर के बाल सफेद, लम्बा भरा मुँह, नोकदार पतली मूँछें, बदन गठीला, उम्र लगभग चालीस साल । हाथ में अंग्रेजी का दैनिक समाचार-पत्र है । सामने घड़ी टंगी है, जिसमें इस समय आठ बजकर पच्चीस हो रहे हैं । कभी घड़ी में देखते हैं फिर अखबार पढ़ने लगते हैं । नौकर-चाकर इधर-उधर दबे पाँव आ-जा रहे हैं । गुरुनारायण हुक्के का कश लेते हुए ।]

गुरुनारायण—साढ़े आठ बजने चाहते हैं अभी तक यशवन्त नहीं आया ? (सुषमा कमरे में प्रवेश करती हुई)

सुषमा—अभी तो नहीं आये बाबूजी । साधु, साधु ! वे बाबू नहीं आये ?
(साधु नौकर का प्रवेश)

साधु—अभी नहीं आये सरकार ।

गुरुनारायण—कौन लेने गया है ?

साधु—सुखराम कार लेकर गया है, ठुजूर । आते ही होंगे ।

गुरुनारायण—देर तो काफी हो गई । रहता कहाँ है ? शायद शहर में ही कहीं रहता है ?

सुषमा—शहर तो बड़ी 'डर्टी' जगह है बाबूजी ! 'ओ: हॉरीबल' ! कैसे रहते होंगे वहाँ लोग ? हमारे कालेज में कुछ लड़कियाँ शहर से आती हैं, शहर तो बीमारी का घर है बाबूजी ।

गुरुनारायण—हाँ, बेटा ! गरीब आदमी शहर में ही रहते हैं । कुछ अमीर लोग भी शहर में रहते हैं ।

सुषमा—शहर में इतनी गन्दगी क्यों रहती है, बाबूजी ? अभी उस दिन मैं वहाँ गई तो देखा—कहीं कूड़े का ढेर है, कहीं कीचड़ है, कहीं मैला पड़ा है । छोटे-छोटे मकान, तंग गलियाँ, न कहीं हवा, न प्रकाश । आखिर भारत के शहर इतने गन्दे क्यों हैं ?

गुरुनारायण—हमारे शहरों की पुरानी बनावट ही ऐसी है । पहले समय के लोग चोरी-डाके के डर से इकट्ठे होकर रहते थे । वही नियम-सा बन गया है ।

सुषमा—तब क्या शहरों में इतने आदमी रहते थे ?

गुरुनारायण—नहीं, पर अब वैसा नहीं है । यह हमारे यहाँ की

प्रबन्ध की कमी है। म्युनिसिपैलिटी के सदस्य इन बातों पर ध्यान नहीं देते। कुछ लोगों की आदतें भी वैसे ही हो गई हैं। उन्हें सफाई से रहने की आदत नहीं है। हमारे यहां स्वास्थ्य की शिक्षा का बड़ा अभाव है। लोगों को वैसी शिक्षा ही नहीं दी जाती कि स्वच्छ वायु में सफाई के साथ रहना सीखें। किन्तु यशवन्त बड़ा होशियार लड़का है।

सुषमा—शहर में रहने वाला कोई भी होशियार कैसे हो सकता है, बाबूजी ? (राजरानी का प्रवेश, वह बहुत मोटे कद की ठिगनी स्त्री है)

राजरानी—होशियार तो हुआ, पर तुम जानो चाय को तो ढेर हो रही है; मैं कहे दूँ हूँ (कोच पर धम्म से बैठती हुई) ऐसे-वैसे के यहाँ मेरी सुखमा, तुम जानो, नहीं जायगी। हाँ, फिर पीछे कहो। यह मानी कि लड़का अच्छा है, पर तुम जानो। घर-बार तो...अरे साधु, सब तैयार है न ? सुखमा बेटो, कोई अच्छी-सी साड़ी पहन ली होती, तुम जानो कि, न जाने उसकी माँ क्या पहन के आ रही होगी। साड़ी तो ये भी... क्या कहो हो... ठीक है न ? क्योंरी सुखमा तू ही बता। (अपनी साड़ी की ओर संकेत करके) कोई बतावे भी तो नहीं है कि कब मैं क्या पहनूँ ? साधु ! देख इधर कूड़ा पड़ा है।

सुषमा—हाँ भाभी, यह साड़ी ठीक तो है ?

गुरुनारायण—(हुक्का गुड़गुड़ाते रहते हैं)

साधु—कहीं भी कूड़ा नहीं है हज़ूर, सब साफ है।

गुरुनारायण—कैदी आज कितने आये, मेंहदी काट रहे हैं न ?

साधु—जी, चार हैं। दो पानी दे रहे हैं। दो बाग साफ कर रहे हैं।

गुरुनारायण—उनको घर का काम भी सिखाओ।

साधु—जी ।

राजरानी—पर मैं कैदियों के घर में काम करने के पच्छ में नहीं हूँ । हाँ, तो मैं कह रही थी न जाने कौन-कौन जात के हैं मरे ! नहीं साधु, घर के काम में उन्हें मत लगाना भैया !

गुरुनारायण—बुरी जात के आदमी तो यहाँ आते ही नहीं । जेलर खुद देखकर भेजता है ।

राजरानी—फिर भी जब कैदी हैं तब उनकी जात का क्या ठिकाना ? कैदी, मैं तो कैदी से पहले बहुत डरूँ थी बाबा रे बाबा ! तुम जानो(इतने में मोटर का हार्न और टेलीफोन की घन्टी साथ सुन पड़ती है)

(गुरुनारायण दूसरे कमरे में, साधु तथा सुषमा बाहर चले जाते हैं । कमरे में यशवन्त की माँ और यशवन्त प्रवेश करते हैं, नमस्ते-नमस्ते के बाद, यशवन्त पास के छोटे कोच पर, उसकी माँ राजरानी के पास, दूसरी ओर छोटे स्टूल पर सुषमा बैठ जाती है)

सुषमा—शोभा बहन नहीं आई ।

अंजना—आज उसकी तबियत ठीक नहीं थी ।

सुषमा—शहर में कोई स्वस्थ कैसे रह सकता है । बड़ी डर्टी जगह है वह ।

अंजना—जहाँ मैं रहती हूँ वह तो साफ है ।

राजरानी—शहर, आखिर फिर गन्दा तो तुम जानो हैई है । हमसे तो वहाँ एक दिन भी न रहा जाय । जाते ही जी में, तुम जानो, न जाने कैसी मिचलाहट होवे है । न जाने, तुम लोग, लोग कैसे रहे हैं ।

अंजना—(आश्चर्य से) जी !

राजरानी—हम तो बड़ी साफ हवा में रहे हैं ।

अंजना—जी ।

राजरानी -- शोभा कौन री ?

यशवन्त—मेरी बहन ।

सुषमा—वह हमारे कालेज में पढ़ती है । बड़ी अच्छी लड़की है भाभी ।

राजरानी—हाँ, अच्छी तो होवे हीगी । ये क्या (अंजना की तरफ) बुरी हैं ?

सुषमा—बड़ी सीधी है भाभी । इधर उसे बहुत दिनों से देखा भी नहीं है ।

अंजना—मैं बीमार थी इसलिये उसे घर पर छोड़ना पड़ा । घर में कोई देखने वाला न हो तो नौकर भी काम नहीं करते ।

राजरानी—पर हाँ, हमारी सुखमा तो तुम जानो घर का कुछ भी काम नहीं करती (अंजना की ओर) वैसे जरूरत भी नहीं रहती ।

दो नौकर हैं, चार कँदी हैं, दो सिपाही हैं । और कँदी तो हम चाहें जितने बुला लें । पर तुम जानो बीमारी में तो घर का आदमी चाहिता ही है । एक नौकर होगा ?

अंजना—हाँ एक है । काम तो शोभा को भी कुछ नहीं है सिवा पढ़ने के । नौकर तो मेरे भी कई थे, पर चोरी के कारण उन्हें निकाल देना पड़ा ।

राजरानी—हाँ, चोरी की आदत तो तुम जानो, नौकरों में पड़ी जाय हैगी । हनारा साथ तो अच्छा नौकर है ।

सुषमा— सुखराम भी ।

राजरानी—हाँ, तो मैं कह रही थी, इसके सिवा यह घर ऐसा-वैसा भी तो नहीं है । सरकार का सुभाव भी बड़ा तेज है । वैसे तो हमारे घर दसियों नौकर काम करें । जायदाद क्या मरी थोड़ी है ? कितना न जाने, कितना सुखमा बेटी, हाँ, 'याद आया सात हजार तो मालियाना दें हैं ।

अंजना—मेरे भैया के यहाँ भी बड़ा ठाठ-बाट है ।

राजरानी—हाँ, सो तो होईगा । क्यों न होगा, तुम जानो मेरे ही पीहर में, अरे साधु, चाय-वाय लेआ न ! क्यों जी कहते क्यों नहीं हो ? अरे कहाँ गये ?

सुषमा—(हँसकर) बाबू जी यहाँ कहाँ हैं भाभी । अभी टेलीफोन आया था न ?

राजरानी—(हँसकर) अच्छा मुझे बातों में ध्यान ही नहीं रहा । हाँ तो मैं कह रही थी, मेरे पीहर में भी बड़ी जायदाद है । यहाँ भी क्या कमी है ? लड़का बिलायत पढ़ने गया है । ये लड़की कालेज में पढ़े है ।

अंजना—जी ।

राजरानी—तुम जानो यहाँ भी किसी बात की कमी नहीं है । सुखमा ! सरकार को बुला ला । चाय ठंडी हो रही है । टैम भी बहुत हो रही है ।

सुषमा—अच्छा । (कनखियों से यशवन्त को देखती हुई बाहर चली जाती है, यशवन्त हाथ की उँगलियाँ चटकाता हुआ नीची नजर से सुषमा को देखता है ।)

राजरानी—तुम्हारे यहाँ क्या काम होता है ? वैसे तो कोई बात नहीं है, कोई न कोई काम तो होता ही होगा । चाहे जितनी जायदाद हो । अरे

साधु ! सरकार नहीं आये, मरा साधु भी तो नहीं है । अभी उस दिन तबियत खराब हो गई तो डाक्टर पर डाक्टर, हकीम पर हकीम, वैद पर वैद सभी आ गये । इनकी, हमारे सरकार की जान-पहचान क्या थोड़ी है ? बड़ा लड़का बिलायत में पड़े है, दो ही बच्चे हैं ले-दे के । दो और थे ईश्वर ने उन्हें समेट लिया । क्या किया जाय किसी का क्या बस है ? (आँसू पोंछती है)

अंजना—शोक तो होता ही है ! मेरे तो एक लड़की और यह लड़का है भगवान की दया से ।

राजरानी—हाँ तो मैं कह रही थी भगवान इन्हें बनाए रखे । अरे साधु ! साधु ! (अपने आप उठने का उपक्रम करती हुई, पर उठती नहीं है) कोई भी तो नहीं सुने है । जैसे देह में जान ही नहीं रही है । बीमारी के बाद से क्या खाऊँ-पिऊँ थोड़े ही हूँ । यों ही थोड़ासा साबूदाना, एक-डेढ़ गिलास फलों का रस, और सेर-डेढ़ सेर दूध । भूख ही नहीं लगती । पर सबेरे चाय के बिना तो रहा नहीं जाय है । दो फुलके छोटे-छोटे । भूख ही नहीं है । देह में जैसे जान ही नहीं है । रात को नींद, न दिन को चैन । अब तो जीवन भार है (उठन की चेष्टा करती हुई) न जाने ईश्वर सबकी सुने है मेरी क्यों नहीं सुनता ? सरकार, तुम सरकार को तो जानती होगी ! मैं भी उन्हें सरकार ही कहूँ हूँ । बड़ा तेज मिजाज है उनका । नौकर-चाकर तो थर-थर काँपे हैं । तो अब उठना ही पड़ा तुम जानो । इस घर में मेरी कोई भी सुने हैं ?

अंजना—नहीं-नहीं, आप बैठिये, जा तो बेटा यशवन्त !

यशवन्त—(जो अब तक अखबार पढ़ रहा था) हाँ-हाँ, आप बैठिये, मैं बुलाता हूँ । (साधु ! साधु ! कहता निकल जाता है)

राजरानी—हाँ तो मैं कह रही थी। क्या कह रही थी ? मेरी याद भी तो बीमारी के बाद से खराब हो गई है।

अंजना—(खीझकर) कह तो आप कुछ भी नहीं रही थीं।

राजरानी—कुछ भी नहीं कह रही थी ? (आश्चर्य से) शायद न कह रही हूँगी ! पर तुम जानो गृहस्थी में बड़ा धंधा रहे हैगा। वैसे कल तो कुछ भी नहीं हूँगी, फिर भी तुम जानो.....अरे चाय ठंडी हुई जा रही होगी। साधु ! साधु !

[सब लोग आते हैं, अंजना गुरुनारायण को प्रणाम करती है, नौकर चाय का सामान छोटी-छोटी मेजों पर सबके सामने रख देता है]

गुरुनारायण—(अंजना से) सुना आप बहुत दिन बीमार रहें ? (यशवंत की तरफ) मैंने इससे एक बार कहा भी था। पर यशवन्त ने समझा कहीं घर देख आया तो बार-बार चाय पिलानी पड़ेगी। (हँसते हैं)

यशवंत—(नम्रता से) आपकी कृपा के लिए हम लोग पहले ही आभारी हैं !

गुरुनारायण—कृपा आजकल की सभ्यता में सबसे सस्ती चीज है। शायद रूखी कृपा, इसीलिये टाल दिया ?

अंजना—इसने मुझसे एक बार कहा भी था। पर मैंने कहा उन्हें अवकाश ही कहाँ रहता होगा ?

गुरुनारायण—पर मालूम होता है अब हमारे मार्ग में कोई रुकावट न रहेगी। चाय शुरू कीजिये। (सब लोग प्रारंभ करते हैं) तुम्हारी परीक्षा कैसी हुई ?

यशवंत—जी, पत्र तो अच्छे हुए हैं। देखिये ! अब तो रिजल्ट के बाद.....

गुरुनारायण—खयाल है रिजल्ट के साथ ही अपाइंटमेंट होगा ।
(चाय सिप करके) अभी जेलर की पोस्ट पर तो डायरेक्टली अपाइंट
होना कठिन है । अच्छा देखो ।

यशवंत—क्या कोई कमेटी अपाइंट करती है ?

गुरुनारायण—हाँ, कई तरह से होता है । इंसपेक्टर जनरल की
ओर से भी होता है । क्या आशा है डिवीजन अच्छा आयेगा ? (चाय
पीता है)

यशवंत—आपका आशीर्वाद हुआ तो । (टोस्ट खाता है)

गुरुनारायण—पर जेल का काम है बड़ा वाहियात । जरासी
असावधानी से सारा सर्विस का क्रेडिट समाप्त हो जाता है । और कैदियों
की दुनिया तो एक मूर्खों का संसार है । बदमाश, चोर, जुआरी, हत्यारे,
डाकू, ठग न जाने किन-किन लोगों से सम्बन्ध रखना पड़ता है । और
फिर सबसे भयंकर हैं राजनैतिक बंदी । पहली श्रेणी के लोगों को डाट-
डपट, मार-सजा से ठीक भी किया जा सकता है पर जैसे इन लोगों में तो
जीवन का मोह ही नहीं होता । बात-बात में सत्याग्रह, बात-बात में
अनशन..... (चाय पीता है)

यशवंत—लेकिन हम लोगों ने किताबों में तो पढ़ा है कि जेल का
अर्थ है मनुष्यों की प्रवृत्तियों में सुधार । सुधार तो होता नहीं है, कैदी
और बदमाश होकर निकलते हैं । सुना है छिपे-छिपे चोरी, यशवंत-जुआ
सभी कुछ चलता है । (चाय पीता है)

राजरानी—(अपने आप) भूख तो जैसे रही नहीं है ।

गुरुनारायण—हाँ, मतलब तो सुधार से ही है । पर किसको चिंता
है कि इनका सुधार हो । नियमों के अनुसार तो यही होना चाहिए कि

बंदी को उसकी बुराइयों से छुड़ाकर शुद्ध सामाजिक प्राणी बनाया जाय । पर न तो सरकार को इसका ध्यान है न और किसी को । हम लोगों को तो केवल उसी के इशारे पर चलना होता है । बाहरी रूप सरकार का और है और भीतरी पालिसी और । वैसे जेलों में इण्डस्ट्रियल विभाग खोले जाते हैं, उनका असली आशय तो और होता है । (दूसरा प्याला ढाल कर पीता है)

यशवंत—क्या हो सकता है ? (मिठाई का एक टुकड़ा तोड़ कर खाता है)

सुषमा — भाभी, मेरी साड़ी नहीं आई ?

राजरानी—कह तो रही हूँ मंगा दूँगी ।

गुरुनारायण—यही कि तमाम विभाग का खर्च कैदियों के सिर से ही निकाला जाय । जेल में वही आदमी सफल हो सकता है, जो बेदर्रों, अन्याय, अत्याचार को न्याय समझे । मनुष्य के साथ किसी प्रकार की भी दया न दिखावे । दो वाक्यों में कैदी के साथ ऐसा व्यवहार होना चाहिये कि बंदी न तो मरे, न पूरी तरह से जीवित ही रह सके ।

यशवंत—और राजनीतिक बंदी ? (एक टोस्ट को दाँत से कुतरता हुआ) इनके साथ तो हम लोगों का अच्छा व्यवहार होना चाहिए । लोग कहते हैं कि ये हमारे देश के नेता और कार्यकर्ता हैं ।

गुरुनारायण—हाँ, (चाय का प्याला रख कर) क्या कोई सरकार चाहती है कि ऐसे आदमियों को किसी प्रकार की सुविधा दी जाय जो उसकी जड़ उखाड़ देना चाहते हैं ? उनके साथ हमारा व्यवहार बड़ी कुशलता का होता है । हम लोग ऐसे लोगों को इकट्ठा नहीं रहने देते । उनके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में समाचार भी दबा कर रखते हैं । यदि बड़ा

कैदी हुआ तो उसको इस प्रकार कष्ट दिया जाता है कि उसे मालूम भी न हो और वह निकम्मा, बीमार, दुर्बल, सदा के लिए बेकार हो जाय। उसकी 'इण्टरव्यू' रोक दी जाती है। कोशिश करते हैं कि उसे प्रलोभन (यदि वह आ सके तो) भी दें और उसे राष्ट्रीय कामों से हटा दें। और भी बहुत बातें हैं जिन्हें बतलाया नहीं जा सकता।

यशवंत—सुना है धारा सभा के किसी अध्यक्ष को स्लोपाइजनिंग किया गया था ?

गुरुनारायण—जाने दो इन बातों को। मैं मानता हूँ कैदी का जेल में सुधार होना चाहिए, पर यह हमें अभीष्ट नहीं है।

यशवंत—'हमें' यानी।

गुरुनारायण—सरकार को।

यशवंत—(सोचते हुए) जी !

गुरुनारायण—तुम समझते हो तुम इस विभाग में सफल हो सकोगे ?

यशवंत—विश्वास तो है। मैं तो एक ही बात जानता हूँ। डटकर ड्यूटी दी जाय और ऊँचे से ऊँचा पद प्राप्त किया जाय। सर्विस ही मेरा ध्येय है। और राष्ट्र-वाष्ट्र तो किसी और समय की चीजें हैं। 'स्वकार्य' साधयेत् धीमान्।'।

गुरुनारायण—हाँ, उन्नति का यही मार्ग है। सरकारी आज्ञा का पालन सब से बड़ा न्याय है। यही प्रत्येक उन्नति चाहने वाले कर्मचारी को ध्यान में रखना चाहिये। मैं जो आज इस पद पर पहुँचा हूँ उसकी सफलता का मूलमन्त्र यही है।

यशवंत—लोग कहते हैं देशवासी होने के नाते हमें हर तरह से उसका ध्यान रखना चाहिए।

गुरुनारायण—देश क्या है ? यदि हम प्रसन्न हैं तो देश प्रसन्न है । अपना घर जलाकर दूसरे के घर की रक्षा करना मूर्खता है । 'आत्मानं सततं रक्षेत् ।'

यशवंत—मैं भी यही मानता हूँ ।

अंजना—पर, देश के प्रश्न को व्यक्ति से ऊपर रखना ही चाहिए ।

यशवंत—माँ ! तुम इन बातों को नहीं समझतीं । केवल चिल्लाने से ही देश की रक्षा तो हो नहीं सकती ।

गुरुनारायण—हाँ, यह दूसरा मार्ग है । यदि सामर्थ्य हो तो वह भी चुना जा सकता है । साफ बात तो है यह हम लोगों की कमजोरी है । हममें इतना साहस नहीं है कि हम इस कार्य में हाथ डालें । आँख के बिल्कुल नीचे पेट ही तो है ?

यशवंत—बिल्कुल ठीक, पहले मैं भी यही समझता था, पर अब तो देखता हूँ इसमें कुछ भी सार नहीं है ।

अंजना—तो देश के उत्थान का कोई प्रयत्न ही नहीं करना चाहिये ? क्यों ? यह तो हमारा स्वार्थ हुआ ?

गुरुनारायण—(तमक कर चुप रह जाते हैं)

यशवंत—स्वार्थ साधन तो सब ही करते हैं । हम भी वही करते हैं । नेता भी तो यश के लिए वैसा करते हैं ।

राजरानी—सरकार जो कुछ सोचते हैं वह भूठ नहीं हो सकता । (टेलीफोन की घंटी बजती है)

गुरुनारायण—(सुषमा से) देखो तो बेटी कौन हैं ? ठहरो, रहने दो मैं ही जाता हूँ । (उठकर चले जाते हैं)

सुषमा—भाभी ! मेरा बाग दिखाओ इन्हें ।

राजरानी—हाँ, सुखमा ने एक बाग लगाया है चलो देख आओ।
पर तू ही लेजा, क्या मैं भी चलूँ ?

सुषमा—हाँ- चलो न भाभी !

अंजना—अच्छा, बाग ! कुछ फूल-ऊल भी हैं या.....?

राजरानी— नहीं, बड़ा अच्छा है। हमारे कैदी वहाँ काम कर रहे हैं। (तीनों भीतर के दरवाजे से बाहर हो जाती है। यशवंत अखबार उठा कर पढ़ने लगता है। इतने में साधु और एक कैदी सामान उठाने के लिए आते हैं)

साधु—(चाय का सामान उठाकर दूसरे पुरुष से) देख, यह सामान ध्यान से उठा ला। टूट-फूट न जाय।

कैदी—बहुत अच्छा। (इतने में देखता है कि यशवंत वहीं बैठा है, एकदम हैरानी, आश्चर्य, उत्सुकता, स्नेह से भरकर) यशवंत !

यशवंत—(अखबार से दृष्टि हटाकर) हैं, बाबू जी, तुम यहाँ ? (खड़ा होकर) देखो, यह बात किसी को नहीं मालूम होनी चाहिए कि तुम.....यह मेरी नौकरी का प्रश्न है.....सुषमा के साथ.....तुम तो सेंट्रल जेल में थे ?

कैदी—उस जेल से पिछले सप्ताह मेरा ट्रांसफर हुआ है। ओः बड़ी प्रसन्नता की बात है। तुम घबराओ मत बेटा ! अंजना की कैसी तबियत है ? तुम लोगों ने मुझसे मिलने की अर्जी नहीं भेजी ? पिछली बार तो मैं देखता रहा, सब लोगों के मिलने वाले आये। मैं आँखों में.....।

आँसू भरे बैठा रहा। शोभा कैसी है ? हा ! बहुत दिन बेखे हो गये।

यशवंत—सब ठीक है। तुम चुपचाप चले जाओ। भाभी भी हैं।

कैदी—अंजना भी आई है क्या ? क्या.....एक बार.....नहीं रहने दो ।

यशवंत—देखो बाबू जी, हम लोगों की लज्जा तुम्हारे हाथ है.....
(पास जाकर) देखो किसी तरह से भी.....यह बहुत बुरा हुआ ।

कैदी—(आवेग को दबाता हुआ) समझता हूँ, सब समझता हूँ, पर जी नहीं मानता । (एकदम पास जाकर यशवंत का आलिङ्गन करने लगता है ।)

यशवंत—हैं, क्या करते हो ? कोई देख लेगा । छोड़ो, छोड़ो ।
छोड़ दो ।

(पिता के आलिङ्गन से अपने को छुड़ाता है, पर वह छोड़ता नहीं है)

कैदी—(रोक) मैं बड़ा अभाग हूँ । मैंने तुम्हारा सत्यानाश कर दिया । क्या अंजना को (आवेश में भर कर एक बार फिर यशवंत से लिपट जाता है) एक बार नहीं देख सकता ? (यशवंत पिता के बाहुपाश से अपने को छुड़ाता है, इतने में साधु अचानक भीतर आता है और कैदी को उसे पकड़े हुए देखकर कैदी पर टूट पड़ता है, उसे मारने लगता है)

साधु—बदमाश ! तेरी सारी शरारत अभी निकाल दूंगा । (धड़ा-धड़ उसे पीटने लगता है) नहीं बाबूजी आप मत बोलिए, मैं ऐसे लोगों का इलाज जानता हूँ । ले और हमला कर पाजी, सूअर, गधा कहीं का (फिर पीटता है, कैदी चिल्लाने लगता है । आवाज सुनकर गुरुनारायण आते हैं) यह साला यशवंत बाबू को मार रहा था ।

गुरुनारायण—क्यों ?

साधु—सुना है यह-हत्यारा है । इसीसे इसको जेल हुई है ।

गुरुनारायण—(क्रोध से) ऐसा ! लगाओ इस साले को, मार-मार कर अधमरा कर दो ।

यशवंत—जाने दीजिए इसने मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ा । (आगे बढ़कर छुड़ाने का प्रयत्न करता है)

गुरुनारायण—(यशवंत से) ठहरो, हट जाओ । मैं देखता हूँ मेरे यहाँ आये हुए अतिथि पर आक्रमण !

साधु—मैंने घुसते ही देखा कि इन बाबू को पकड़ कर गिरा रहा है !

(गुरुनारायण एक बेंत उठाकर चार-पाँच सड़-सड़ मारते हैं, कैदी चिल्लाने लगता है । इतने में दीड़ती हुई सुषमा, अंजना और पीछे हाँफती राजरानी प्रवेश करती हैं; अंजना एकदम कैदी को देख कर)

अंजना—ठहरो, ठहरो, क्या करते हो ? हाय, तुम्हें किसने मारा । (एकदम पति के शरीर पर गिर जाती है । गुरुनारायण, सुषमा और राजरानी आश्चर्य में भर जाते हैं)

गुरुनारायण—(यशवंत की ओर देखकर) बहुत बुरी तरह मार पड़ी । यह तुम्हारा कौन है ?

यशवंत—(गुमसुम रहकर) कोई न.....।

अंजना—(क्रोध से) कोई नहीं, क्या यह तेरे कोई नहीं हैं ? तू ठीक जेलर हो सकेगा बेटा । ठीक, रायसाहब, (जोर से) यह मेरे पति हैं पति, इसके बाप । हाय.....तुम्हारी यह दशा ! मैं इससे पूर्व ही मर क्यों न गई ? सुझे क्षमा करो । (एक दम मूर्छित होकर पति के पैरों पर गिर जाती है ।)

(पर्दा गिरता है)

कंगाल नहीं

(सेठ गोविन्द दास)

सेठ गोविन्द दास को एकांकी रचना में प्रचुर ख्याति तथा क्षमता प्राप्त है। बड़े नाटकों की रचना के साथ ही सेठ जी ने एकांकी नाटकों की सृष्टि करने में जीवन के अध्ययन की सूक्ष्मताओं की अपूर्व शक्ति प्रदर्शित की है। सेठ जी के पात्र विचारों की अत्यन्त व्यापक तथा आकर्षक भूमि पर अवतरित होकर, संघर्षों का सामना करते हुए भी जीवन की विविध समस्याओं को सुलभाते हुए दृष्टिगत होते हैं। एकांकी के आरम्भ में ही कुतूहल का वातावरण सृजित कर देना इनकी कला की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता है।

सेठ जी के नाटकों की भावभूमि बड़ी विस्तृत तथा व्यापक है। ऐतिहासिक नाटकों की रचना के साथ ही इन्होंने सामाजिक नाटकों में आज के विकृत (सामाजिक) जीवन पर भी प्रकाश डाला है। इनके ऐतिहासिक नाटक प्राचीन गौरव के उद्घाटक हैं। सामाजिक नाटकों में इनकी विवेक तथा तर्कपूर्ण दृष्टि व्यक्त हुई है।

सेठ जी ने अधिकतर एक से अधिक दृश्यों में अपने एकांकी की रचना की है। अंग्रेजी साहित्य के एपीलोग तथा प्रलोग नाटकों के सदृश इनके एकांकी नाटकों में मुख्य कथा में प्रारम्भ तथा अंत के दृश्य भी सम्बद्ध रहते हैं।

सेठ जी प्राचीन भारतीय गौरव के उपासक तथा प्रमुख राजनैतिक एवं सामाजिक कार्यकर्ता हैं। प्रस्तुत नाटक राजनैतिक समस्या को लेकर विरचित हुआ है। ब्रिटिश सरकार को भारतीय राज्य एवं सम्पत्ति हड़पने

की नीति के फलस्वरूप सैकड़ों राजघरानों के सदस्य क्षुधातं दिवंगत हो गये । उनकी दशा इतनी हीन तथा दयनीय थी, आत्माभिमान के कारण मजदूरी भी नहीं कर सकते थे । इस नाटक में ब्रिटिश सरकार की इसी नीति की आलोचना की गई है ।

सेठ जी के कथोपकथन सारगर्भित तथा मार्मिक होते हैं । इनकी भाषा एकांकी के लिये सर्वथा उपयुक्त है ।

पात्र, स्थान

पात्र

राजमाता—सिलापरी गाँव की मालगुजारिन, राजगोंड वंश की
राजमाता

बड़े राजा
मँझले राजा
छोटे राजा

} राजमाता के तीन पुत्र

बड़ी रानी—बड़े राजा की पत्नी

मँझली रानी—मँझले राजा की पत्नी

राजकुमारी—राजमाता की पुत्री

स्थान—सिलापरी गाँव (जिला सागर, मध्यप्रान्त) में राजमाता
का घर

समय—सन्ध्या

नोट—इस नाटक की कथा के मध्यप्रान्त के प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता
रायबहादुर हीरालाल ने लेखक को बताई थी । कथा एक सत्य घटना है ।

कंगाल नहीं

[एक तरफ को राजमाता के घर की खपरेल परछी दिखाई देती है, जिसके कई खपरे टूट गये हैं। परछी में एक ओर घर के भीतर जाने का दरवाजा दिखता है, जिसके किवाड़ों की लकड़ी भी टूट गई है। यह दरवाजा खुला हुआ है और इसके अन्दर घर के छोटे-से मैले-कुचैले कोठे का एक हिस्सा दिखाई देता है। परछी के सामने मैदान है। मैदान के एक तरफ दूर पर गाँव के कुछ भोपड़े दिखते हैं और दूसरी तरफ खेत का एक हिस्सा, जिसमें छोटी-छोटी विरल सूखी-सी फसल खड़ी है। परछी में एक फटे-से बोरे पर राजमाता बैठी है। उनकी उम्र करीब ५० साल की है। रंग साँवला है। मुख और शरीर पर कुछ झुर्रियाँ पड़ गई हैं। बाल आधे से अधिक सफेद हो गये हैं। शरीर बहुत दुबला-पतला है। शरीर पर वे एक मैली-सी लाल बुंदेलखंडी सूती साड़ी पहने हैं, जो कई जगह से फटी हुई है और जिसमें कई जगह थिगड़े लगे हैं। राजमाता के पास बड़ी रानी और मंझली रानी जमीन पर ही बैठी हुई हैं। दोनों साँवले रंग की हैं। बड़ी रानी की उम्र करीब पच्चीस वर्ष और मंझली रानी की करीब बीस वर्ष की है। दोनों युवतियाँ होते हुए भी कृश हैं और उनकी आँखों के चारों तरफ के गढ़ों और सूखे ओठों से जान पड़ता है कि उन्हें पेट भर खाने को नहीं मिलता। दोनों राजमाता के समान ही लाल रंग की साड़ियाँ पहने हैं, जो कई जगह से फटी हुई और थिगड़ैल भी हैं। दोनों के हाथों में मोटी-मोटी लाख की एक-एक चूड़ी है। तीनों में बातचीत हो रही है। राजमाता की आँखों में आँसू भरे हैं।]

बड़ी रानी—कहाँ तक रंज करोगी माँ, और रंज करने से फायदा ही क्या होगा ?

राजमाता—जानती हूँ, बेटो, पर जानने से क्या होता है । जो बात रंज की है, उस पर रंज आये बिना नहीं रहता ।

मंझली रानी—पर, माँ, जो बात बस की नहीं, उस पर रंज करना फजूल है ।

राजमाता—बिना बस की बात ही तो ज्यादा रंज पहुँचाती हैं ।

[घर के भीतर से छोटे राजा और राजकुमारी हाथ में एक-एक तस्वीर लिये हुए आते हैं । छोटे राजा की उम्र करीब बारह वर्ष की है । वह साँवले रंग और ठिगने कद का दुबला-पतला लड़का है । एक मैली और फटी-सी धोती पहने है, जो घुटने के ऊपर तक चढ़ी है । ऊपर का बदन नंगा है । राजकुमारी करीब ८ साल की साँवले रंग की दुबली-पतली लड़की है । एक मैली-सी लाल रंग की फटी हुई साड़ी पहने है । साड़ी इतनी फट गई है कि शरीर का अधिकांश हिस्सा साड़ी में से दिखात है ।]

छोटे राजा—(राजकुमारी की ओर इशारा कर) यह कहती है दुर्गावती ने बावन गढ़ जीते थे, मैं कहता हूँ संग्रामशाह ने । फैसला तुम करो मैं सच्चा हूँ या यह ?

राजकुमारी—हाँ, तुम फैसला कर दो, माँ ।

राजमाता—बेटो, संग्रामशाह ने बावन गढ़ जीते थे, दुर्गावती ने नहीं ।

छोटे राजा—देखा, मैंने पहले कहा था, यह बीरता आदमी कर सकता है, औरत नहीं ।

(राजकुमारी उदास हो जाती)

राजमाता—(राजकुमारी को उदास देखकर) उदास हो गई, बेटी, पर हमारे कुल में तो औरतें आदमियों से कम बीर नहीं हुईं । संग्रामशाह ने बावन गढ़ जीते तो क्या हुआ, दुर्गावती उनसे कम बीर नहीं थीं ।

बड़ी रानी—हाँ, संग्रामशाह ने बावन गढ़ जीतकर बीरता दिखाई तो दुर्गावती ने अपने प्राण देकर ।

मंझली रानी—हाँ, जीत में बीरता दिखाना उतना कठिन नहीं, जितना हार में ।

(राजमाता रो पड़ती हैं)

बड़ी रानी—माँ, फिर वही, फिर वही ।

छोटे राजा—(राजमाता के पास जाकर उनके निकट बैठ कर) माँ, तुम रोती क्या हो ? मैं संग्रामशाह से बड़ा बनूँगा । उनने बावन गढ़ जीते थे, मैं बावन शहर जीतूँगा ।

राजकुमारी—(राजमाता के पास जाकर) और, माँ, मैं दुर्गावती से भी बड़ी बीर बनूँगी ।

छोटे राजा—(संग्रामशाह की तस्वीर दिखाते हुए) देखो, माँ, संग्रामशाह से मैं कितना मिलता-जुलता हूँ । अगर तुम मेरी इस फटी धोती की जगह जैसे कपड़े ये पहने हैं, वैसे पहना दो, मुझे तलवार मँगवा दो, और ऐसा ही घोड़ा खरीद दो, तो मैं अकेला बावन शहर जीत लाऊँ ।

राजकुमारी—और, माँ, देखो, मैं दुर्गावती से कितनी मिलती हूँ । अगर तुम मुझे भी दुर्गावती जैसे कपड़े पहना दो, हथियार मँगवा दो, और जैसे हाथी पर ये बैठी हैं, वैसा हाथी मँगवा दो, तो मैं भी दुर्गावती से बड़ी बीर बन जाऊँ ।

(राजमाता के और अधिक आँसू गिरने लगते हैं)

बड़ी रानी—(छोटे राजा और राजकुमारी को हाथ पकड़ कर उठाते हुए) अच्छा, राजा जी, और बाई जी मेरे साथ चलो, मैं तुम दोनों की सब चीजें मंगा दूँगी ।

(दोनों को लेकर बड़ी रानी घर के भीतर जाती है । मंझली रानी राजमाता के निकट सरक कर अपनी फटी साड़ी से राजमाता के आँसू पोंछती है । कुछ देर निस्तब्धता रहती है ।)

मंझली रानी—माँ, थोड़ा तो धीरज रखो ।

राजमाता—बहुत जतन करती हूँ, बेटी, धीरज रखने के बहुत जतन करती हूँ, पर जब इन बच्चों की ऐसी बातें सुनती हूँ, तब तो हिरबे में ऐसा मूल उठता है जैसा भूखे पेट और नंगे तन रहने पर भी नहीं । (कुछ ठहर कर) और, बेटी, एक बात जानती है ?

मंझली रानी—क्या, माँ ?

राजमाता—ये बच्चे ही इन तस्वीरों को लिये घूमते हैं और ऐसा सोचते और कहते हैं, यह नहीं, तेरे मालक और बड़ी बहू के मालक भी जब छोटे थे तब वे भी इसी तरह इन तस्वीरों को लिये घूमते और यही सब कहते फिरते थे । और वे ही नहीं, मेरे मालक, उनके बाप, और उनके बाप, और उनके बाप, सब यही सोचते और कहते थे ।

मंझली रानी—आह !

(राजमाता लम्बी साँस लेती हैं । कुछ देर निस्तब्धता रहती है ।)

राजमाता—बेटी, संग्रामशाह और दुर्गावती को पीढ़ियाँ बीत गईं । गिरती में सब ने बढ़ती की सोची । बीती को सोचा, भविस के लम्बे-लम्बे विचार किये, पर बरतमान किसी ने न देखा और आज.....(कुछ रुक-कर) आज, बेटी, बावनगढ़ के बिजेता संग्रामशाह के कुल को बावन छवाम भी नसीब नहीं ।

(मँझले राजा का खेत की तरफ से प्रवेश । मँझले राजा की उम्र २२, २३ वर्ष की है । रंग साँवला और शरीर दुबला-पतला तथा ठिगना है । एक मैली और फटी-सी धोती को छोड़कर और कोई वस्त्र शरीर पर नहीं है । हाथ में थोड़े से गेहूँ के दाने हैं, जो बहुत पतले पड़ गये हैं । उन्हें देख कर मँझली रानी घर के भीतर चली जाती है ।)

मँझले राजा—(गेहूँ के दानों को राजमाता के सामने पटक कर भरपिड़े हुए स्वर में) माँ, सब हार में झिरी पड़ गई । बीज निकलना भी कठिन है ।

राजमाता—(लम्बी साँस लेकर) तब....तब..... तो वसूली भी न होगी ।

मँझले राजा—वसूली.....वसूली.....माँ, लगान तो इस साल सरकार ने मुल्तबी कर दिया ।

राजमाता—(एकदम घबड़ाकर खड़े होते हुए) मुल्तबी हो गई ?

मँझले राजा—हाँ, माँ, आज ही हुकुम आया है ।

राजमाता—तो सिलापरी गाँव से जो एक सौ बीस रुपया बचते थे, वे भी न आयेंगे ?

मँझले राजा—इस बरस तो नहीं, माँ ।

राजमाता—फिर हम लोग क्या खायेंगे पियेंगे ?

मँझले राजा—पिनसन के सरकार एक सौ बीस रुपया साल बेती है न ?

राजमाता—सात जीव एक सौ बीस रुपया साल में गुजर करेंगे ? महीने में दस रुपये, एक जीव के लिए तीन पैसे रोज ?

मँझले राजा—बड़े भाई ने एक उपाय और किया है, माँ !

राजमाता—(उत्सुकता से) क्या, बेटा ?

मँझले राजा—तुम धीरज रखकर बैठो तो बताऊँ ।

राजमाता—(बैठते हुए) जल्दी बता, बेटा, मेरा कलेजा मुँह को आ रहा है ।

मँझले राजा—माँ, अकाल के कारन सरकार ने काम खोला है न ?

राजमाता—हाँ, जहाँ कंगाल काम करते हैं ।

मँझले राजा—पर जानती हो, माँ उन्हें क्या मिलता है ?

राजमाता—क्या ?

मँझले राजा—हमसे बहुत ज्यादा । चार रुपया महीना, एक-एक को दो आने रोज ।

राजमाता—अच्छा !

मँझले राजा—हम सात हैं । बड़े भाई ने अरजी दी है कि हम सब को अकाल के काम में जगह दी जाय । माँ, वह अरजी मंजूर हो गई तो हम में से एक-एक को दो-दो आने रोज, सुना, दो-दो आने रोज, सब को मिलाकर अट्ठाईस रुपया महीना, तीन सौ छत्तीस रुपया साल, सुना, तीन सौ छत्तीस रुपया साल मिलेगा ।

(बड़े राजा का खेत की ओर से प्रवेश । वे अपने भाई से मिलते-जुलते हैं । करीब २८ वर्ष की उम्र है वेष-भूषा उन्हीं के सदृश है । वे अत्यन्त उदास हैं । आकर राजमाता के पास बैठ जाते हैं ।)

राजमाता—बेटा, मँझला कहता था कि तूने सरकार को एक अरजी दी है ?

बड़े राजा—(लम्बी सांस लेकर) हाँ दी थी, माँ ।

राजमाता—(उत्सुकता से) फिर क्या हुआ, बेटा मंजूर हो गई ?

बड़े राजा—नहीं ।

मँझले राजा—नहीं हुई, तो हम कंगालों से भी बदतर हैं ?

बड़े राजा—इसीलिये तो नहीं हुई कि हम कंगालों से कहीं बढ़कर हैं ।

राजमाता—बेटा, तेरी बात समझ में नहीं आती ।

बड़े राजा—माँ, हमें पिनसन मिलती है, हम महाराजाधिराज राजराजेश्वर संग्रामशाह और महारानी दुर्गावती के कुल के हैं, हमारी बड़ी इज्जत है, हमारा बड़ा मान है, हमारी आमदनी चाहे तीन पेंसा रोज ही हो, पर हमें कंगालों की रोजनदारी, दो आना रोज, कैसे मिल सकती है ? हमारी भरती कंगालों में कैसे की जा सकती है ?

(बड़े राजा ठठाकर हंसते हैं और लगातार हंसते रहते हैं । राजमाता के आँसू बहते हैं और मँझले राजा उद्विग्नता से बड़े राजा की ओर देखते हैं ।)

यवनिका-पतन

समाप्त



सूखी ढाली

(श्री उपेन्द्र नाथ अशक)

अशक जी प्रसिद्ध कहानीकार, कुशल उपन्यासकार तथा सिद्धहस्त एकांकी लेखक हैं। उनकी नाट्य शैली में कुछ विचित्र अपनापन है। उनके एकांकी में कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो हमारे निकटवर्ती जीवन के अंग से प्रतीत होते हैं। यह सब इसलिए कि “उनके नाटकों के कथानक प्रायः दैनिक जीवन में चुने होते हैं और उनके पात्र सिनिक, न्यूराटिक, प्रेम-वीर या असाधारण होकर यथार्थ जीवन ही में हमारे इर्द गिर्द दिखायी देते हैं।” यही कारण है कि अत्यन्त साधारण कोटि की लगने वाली घटनाएँ या अत्यन्त ऊबड़-खाबड़ इनके कथानक सिद्धहस्त में पड़कर आकर्षक तथा प्रभावोत्पादक बन जाते हैं।

अशक जी के एकांकी नाटकों का दृष्टिकोण प्रधान रूपेण सामाजिक रहता है। एकांकी रचना करते हुए उन्होंने भारतीय नारी की असहायता तथा विवशता, उसकी कोमल तथा उत्सर्गमयी भावना, उसकी कर्तव्य-परायणता तथा संघर्षप्रियता का मार्मिक चित्रण किया है। नारी के हृदय के संघर्ष तथा अतद्वन्द्व को चित्रित करने में अशक जी ने अपनी पूर्ण क्षमता का परिचय दिया है।

अशक जी उर्दू के सफल गद्यकार हैं। इसीलिए उनकी भाषा अत्यन्त मुहाविरेदार तथा प्रवाहयुक्त बन गई है। यही कारण है कि अशक जी के संवादों में स्वाभाविकता तथा अनुरंजनकारी प्रगति सर्वत्र उपलब्ध होती है। उनके एकांकियों में मनोविज्ञान के साथ ही साथ सरल स्वाभाविक भाषा का योग है। अतएव उनके पात्र स्वयं चलने-फिरने तथा बोलने-सुनने योग्य हो जाते हैं।

‘सूखी डाली’ एकांकी में एक सफल नाटक के सभी गुण विद्यमान हैं। “इस संक्रांति काल में जहाँ पग-पग पर नये पुराने की टक्कर है, अशक जो ने घर-घर में होनेवाले संघर्ष की एक भाँकी ‘सूखी डाली’ में दी है। हल्का-हल्का व्यंग्य तथा प्यारी-सी आर्द्रता सारे नाटक पर छायी है।” ‘सूखी डाली’ की रचना रंगमंच के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

पात्र

पुरुष पात्र	:	स्त्री पात्र
दादा	:	बेला (छोटी बहू)
कर्मचन्द	:	छोटी भाभी (बेला की सास, इन्दु की माँ)
परेश	:	मभली भाभी
भाषी	:	बड़ी भाभी
मल्लू	:	मंभली बहू
	:	बड़ी बहू
	:	रजवा
	:	पारो

सूखी डाली

पहला दृश्य

[मानव प्रगति के इस युग में जब व्यक्तिगत-स्वतन्त्रता को अराजकता की हद तक महत्व दिया जाता है और तानाशाही को 'सभ्य' समाज में अत्यन्त निन्दनीय माना जाता है, दादा मूलराज अपने समस्त कुटुम्ब को एक यूनिट (unit) बनाये, उस पर पूर्णरूप से अपना प्रभुत्व जमाये, उस महान् वट की भाँति अटल खड़े हैं, जिसकी लम्बी-लम्बी डालियाँ उनके आँगन में एक बड़े छते की भाँति धरती को आच्छादित किये हुए, अग्रणीत घोंसलों को अपने पत्तों में छिपाये, वर्षों से तूफानों और आँधियों का सामना किये जा रही हैं ।

वर्षों इस वट की संगति में रहने के कारण दादा वट ही की भाँति महान् दिखाई देते हैं । आयु की ७२ सर्दियाँ देख लेने पर भी उनका शरीर अभी तक नहीं झुका और उनकी सफेद दाढ़ी वट की लम्बी-लम्बी दाढ़ियों की भाँति उनकी नाभि को छूती हुई मानों धरती को छूने का प्रण किये हुए है ।

दादा का बड़ा लड़का १९१४ के महा-युद्ध में सरकार की ओर से लड़ते-लड़ते काम आया था । इसके बदले में सरकार ने दादा को एक मुरब्बा जमीन दी थी । किन्तु दादा सरकार की इस कृपा ही पर संतुष्ट नहीं रहे । अपने साहस, परिश्रम, दूरदर्शिता और रुसूख से उन्होंने एक के दस मुरब्बे बनाये । उनके दो बेटे और पोते जमीन, फार्म, डेयरी और चीनी के उस कारखाने के काम की देख-भाल करते हैं, जो उन्होंने हाल ही में अपनी जमीन में लगाया है । सबसे छोटा पोता अभी-अभी नायब तहसीलदार होकर इसी कस्बे में लगा है और कुछ ही दिन हुए उसका

विवाह लाहौर के एक प्रतिष्ठित तथा सम्पन्न कुल की सुशिक्षित लड़की से हुआ है ।

उनके छोटे पोते परेश का नायब तहसीलदार और उनकी छोटी पतोहू का सुशिक्षित होना, अपने में दो महत्वपूर्ण बातें हैं । पहली से सरकारी हलकों में उनकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ जाने की सम्भावना है; गाँव में उनका और भी आदर होने लगा है, किन्तु साथ ही दूसरी से उनके परिवार के लिए संकट भी उपस्थित हो गया है । उनकी तीनों बहूएँ (जो घर में बड़ी भाभी, मझली भाभी और छोटी भाभी के नाम से पुकारी जाती हैं, सीधी-साधी महिलाएँ हैं । उन सब में उनकी पोती इन्दु ही (जिसने प्रायमरी स्कूल में बड़ी सफलतापूर्वक शिक्षा पाई है) सबसे अधिक पढ़ी-लिखी समझी जाती है । घर में उसकी चलती भी खूब है और दादा अपनी इस पोती से प्यार भी बहुत करते हैं; किन्तु इस ग़ैजुएट छोटी पतोहू के आने से (जो घर में छोटी बहू के नाम से पुकारी जाती है) कुटुम्ब के इस तालाब में इस प्रकार लहरें-सी उठने लगी हैं जैसे स्थिर पानी में बड़ी सी ईंट गिरने से पैदा हो जाती हैं ।

पर्दा इमारत के बरामदे में खुलता है । वास्तव में यह बरामदा घर की स्त्रियों की रांदेवू (Rendezvous) सम्मिलन-स्थल है । दिन भर इसमें कोलाहल मचा रहता है । कभी घर की स्त्रियाँ यहाँ धूप लेती हैं; कभी चरखे कातती हैं; कभी गप्पें उड़ाती हैं; कभी लड़ती-भगड़ती हैं और कुछ न हो तो स्नानागार में पड़े कपड़े ही धोया करती हैं । यह स्नानागार बाहर के अहाते में है । दायीं दीवार के कोने में जो दरवाजा है; उसके साथ ही बाहर को । रसोई आदि से निबट कर दोपहर के बाद, घर की दो-चार स्त्रियाँ प्रायः रोज वहाँ कपड़े धोया करती हैं और निरन्तर 'थप-थप' 'धप-धप' की ध्वनि इस बरामदे में गूँजा करती है ।

सामने दीवार के बायें कोने में एक छोटी-सी गैलरी है जिसमें (दोनों ओर आमने-सामने) पहले मझली बहू और बड़ी बहू के कमरे हैं (जिनकी खिड़कियाँ बरामदे में खुलती हैं) फिर मझली भाभी और बड़ी भाभी के । छोटी भाभी का कमरा (जो इन्दु की माँ और छोटी बहू बेला की सास) दायाँ ओर है । छोटी बहू का कमरा ऊपर की छत पर है और बायीं दीवार में सीढ़ियाँ बनी हैं; जो ऊपर को जाती हैं ।

सामने की दीवार के साथ गैलरी के इधर को दो तख्त बिछे हैं । दो एक चारपाइयाँ दीवार के साथ खड़ी हैं । एक पुराने फैशन की बड़ी आराम कुर्सी भी सामने की दीवार के साथ लगी हुई है ।

दोपहर होने में अभी काफी देर है । अतः बरामदे में अपेक्षाकृत निस्तब्धता है; केवल गैलरी से स्त्रियों के जल्दी-जल्दी बातें करने की आवाज आ रही है । पर्दा उठने के कुछ क्षण पश्चात् इन्दु तेज-तेज गैलरी से निकलती है और बिफरी हुई-सी दायाँ ओर के तख्त पर बैठ जाती है । इन्दु की भृकुटी चढ़ी है और बड़ी बहू शान्त और गम्भीर है ।]

बड़ी बहू—(इन्दु के कन्धों पर अपने दोनों हाथ रखते हुए) आखिर कुछ कहो भी ! क्या कह दिया छोटी बहू ने ?

इन्दु—(चुप) ।

बड़ी बहू—क्या कह दिया उसने जो इतनी बिफरी हुई हो ?

इन्दु—(क्रोध) और क्या ईंट मारती ।

बड़ी बहू—कुछ कहो भी.... ।

इन्दु—मेरे मायके में यह होता है, मेरे मायके में यह नहीं होता (हाथ मटकाकर) अपने और अपने मायके के सामने तो वह किसी को कुछ गिनती ही नहीं हम तो उसके लिए मूर्ख, गँवार और असभ्य हैं ।

बड़ी बहू—(आश्चर्य से) क्या.....

इन्दु—बैठक के बाहर मिश्रानी खड़ी रो रही थी । मैंने पूछा तो पता चला कि बहू रानी ने उसे काम से हटा दिया है ।

बड़ी बहू—(उसी आश्चर्य से) काम से हटा दिया है ! भला क्या दोष था उसका ?

इन्दु—दोष यह था कि उसे काम करना नहीं आता ।

बड़ी बहू—(स्तम्भित) काम करना नहीं आता ।

इन्दु—उस बेचारी ने कहा भी कि मैं दस-पाँच दिन में सब कुछ सीख जाऊँगी । भला कै दिन हुए हैं मुझे आपका काम करते ? किन्तु बहू रानी न मानी । भाड़न उन्होंने उसके हाथ से छीन लिया और कहा कि हट तू, मैं सब कुछ स्वयं कर लूँगी । अभी तक इतना तो सलीका नहीं कि बैठक कैसे साफ की जाती है, पाँच-दस दिन में तू क्या सीख जायगी ?

बड़ी बहू—सलीका नहीं.....?

इन्दु—मैंने जाकर समझाया कि भाभी दस साल से यही मिश्रानी घर का काम कर रही है । घर भर की सफाई करती है, बर्तन मलती है, कपड़े धोती है । जाने तुम्हारा कौन-सा ऐसा काम है जो इससे नहीं होता और फिर मैंने समझाया कि भाभी नौकर से काम लेने की भी तमोज़ होनी चाहिए ।

बड़ी बहू—हाँ और क्या.....।

इन्दु—भट्ट से बोली, 'वह तमोज़ तो सब आप लोगों को है', मैंने कहा, 'तुम तो लड़ती हो । मैं तो सिर्फ यह कहना चाहती थी कि नौकर से काम लेने का ढंग भी होता है ।' इस पर तुनककर बोलीं, 'और वह ढंग मुझे नहीं आता, मैंने नौकर जो यहीं आकर देखे हैं ।' फिर कहने लगीं, 'काम लेने का ढंग उसे आता है जिसे काम की परख हो । सुबह-

शाम भाड़ू बेने मात्र से कमरा साफ नहीं हो जाता । उसकी बनावट-सजावट भी कोई चीज है । न जाने तुम लोग किस तरह इन फूहड़ नौकरों से गुजारा कर लेते हो । मेरे मायके में तो ऐसी गंवार मिश्रानी दो दिन छोड़, दो घड़ी न टिकती ।’

बड़ी बहू—कही उसने ये सब बातें ?

इन्दु—ग़ौर कैसे कही जाती है—जब से आयी है यही तो सुन रहे हैं—नौकर अच्छे हैं तो उसके मायके में, खाना-पीना अच्छा है तो उसके मायके में, कपड़े पहनने का ढंग आता है, तो उसके मायके वालों को, हम तो न जाने कैसे जी रहे हैं । (नाक-भों चढ़ा कर) यहाँ के लोगों को खाना-पीना, पहनना-घोड़ना कुछ भी नहीं आता । हमारे नौकर गंवार, हमारे पड़ोसी गंवार; हम स्वयं गंवार

बड़ी बहू—(चकित विस्मित सिर्फ सुनती है ।)

इन्दु—मैंने भी कह दिया—‘क्या बात है भाभी तुम्हारे मायके को ? एक नमूना तुम्हीं जो हो । एक मिश्रानी भी ले आती तो हम गंवार भी उससे कुछ सीख लेते ।’

[दायीं दीवार के कमरे से छोटी भाभी (इन्दु की माँ और छोटी बहू बेला की सास) प्रवेश करती हैं । उनके पीछे-पीछे रजवा है ।]

छोटी भाभी—क्यों इन्दु बैठी, क्या बात हुई—यह रजवा रो रही है, कोई कड़ी बात कह बी छोटी बहू ने इसे ?

इन्दु—मीठी वं कब कहती हैं जो आज कड़ुवी कहेंगी ?

छोटी भाभी—यह आज तुम कंसी जल्दी-कंटी बातें कर रही हो ? छोटी बहू से झगड़ा हो गया है क्या ?

रजवा—(भरे हुए गले से) माँ जी आज उन्होंने बरबस मुझे काम से हटा दिया... ..इतने बरस हो गये आपकी सेवा करते, कभी किसी ने इस प्रकार अनादर न किया था। मुझे तो माँ जी आप अपने पास ही रखिए। मैं आज से उनका काम न करने जाऊंगी।

छोटी भाभी—वह तो बच्ची है मिश्रानी, तू भी उसके साथ बच्ची हो गयी।

इन्दु—(मुँह बिचकाकर व्यंग से) जी हाँ बच्ची है ! रोटी को चोची कहती है। उसे तो बात ही करनी नहीं आती (क्रोध से) अपने मायके के सामने तो वह किसी को कुछ समझती ही नहीं और गज भर की जवान... ..।

बड़ी बहू—बात यह है छोटी माँ कि छोटी बहू को हमारा खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना कुछ भी पसन्द नहीं। उसे हम से, पड़ोस से, हमारी हर बात से घृणा है।

छोटी भाभी—(चिन्ता से) फिर कैसे चलेगा ? हमारे घर में तो मिल कर रहना, बड़ों का आदर करना, अपने घर की रूखी-सूखी को दूसरों की चुपड़ी से अच्छा समझना, नौकरों पर दया और छोटों पर....।

(मंझली बहू बाहर से हँसती हुई प्रवेश करती हैं ।)

मंझली बहू—खिह....खिह... ..खिह... ..हा-हा-हा... ..

इन्दु—क्या बात है भाभी, जो हँसी के मारे लोट-पोट हुई जा रही हो।

मंझली बहू—खिहि...खिहि...(हाथ पर हाथ मारती है ।)...हा-हा—हा-हा-हा...

(गैलरी से मँझली भाभी और बड़ी, भाभी प्रवेश करती हैं ।)

दोनों—क्या बात है जो आज इतनी 'हा हा, ही हो हो रही है ?'

इन्दु—यह भाभी हैं कि बस हँसे जा रही हैं, कुछ बताती हो नहीं ।

मँझली बहू—मैं कहती हूँ.....

(फिर हँस पड़ती है ।)

बड़ी बहू—आखिर कुछ कहो भी ।

मँझली बहू—आज भाई परेश की वह गत बनी कि बेचारा अपना-सा मुँह लेकर रह गया...खिहि...खिहि हा-हा-हा-हा—हा-हा-हा... ।

छोटी भाभी—ओ हो, तुम्हारी हँसी भी बहू... ।

मँझली बहू—मैं क्या करूँ मैं हँसी के मारे मर जाऊँगी छोटी माँ ! अभी-अभी छोटी बहू ने परेश की वह गत बनायी कि बेचारा अपना-सा मुँह लेकर दादा जी के पास भाग गया ।

बड़ी बहू
इन्दु }—बात क्या हुई ?

मँझली बहू—मैं तो उधर ऊपर सामान रखने गयी थी । बहुत-सी बातें तो मैंने सुनी ही नहीं, बहुत-सी समझ भी नहीं पायी । अंग्रेजी में गिटपिट कर रहे थे । छोटी बहू का पारा कुछ चढ़ा हुआ था इतना मालूम हुआ कि परेश स्नान कर कमरे में गया तो बहू रानी ने सारा फर्नीचर निकालकर बाहर रख दिया था । परेश ने कारण पूछा । छोटी बहू ने कहा, "मैं इन टूटी-फूटी कुर्सियों और गले-सड़े फर्नीचर को अपने कमरे में न रहने दूँगी ।" परेश कहने लगा, 'हमारे बुजुर्ग...बात काट कर छोटी

बहू ने कहा, हमारे बुझुगं तो मंगे-बुचबे जंगलों में घूमा करते थे तो क्या हम भी उनका अनुकरण करें' (हँसती है) और जो सामान पड़ा था वह भी उठा कर बाहर फेंक दिया ।

इन्दु—फिर... फिर...

मंभली भाभी—छोटी बहू...

छोटी भाभी—यह तो...

मंभली बहू—परेश ने कहा, 'इस फर्नीचर पर हमारे दादा बैठते थे, पिता बैठते थे, चाचा बैठते थे । उन लोगों को कभी शर्म नहीं आयी, उन्होंने कभी फर्नीचर के गले-सड़े होने की शिकायत नहीं की । अब यदि मैं जाकर इसे रखने पर आपत्ति करूँगा तो दादा कहेंगे कि तहसीलदार होते ही लड़के का सिर फिर गया है ।'

(हाथ मटकाकर) न भाई ?

मंभली और
बड़ी भाभी }—हाँ ठीक ही तो कहा परेश ने ।

छोटी भाभी—परेश...मेरा बेटा भला...।

मंभली बहू—तब बहू ने कहा, 'तो न कहो—मैं तो इस गले-सड़े सामान को कमरे के पास तक न फटकने दूँगी । इस बेडौल फर्नीचर से तो नीचे धरती पर चटाई बिछा कर बैठना-लेटना अच्छा है । मेरे मायके में...'

इन्दु—(क्रोध से) बस, उसे तो अपने मायके की पड़ी रहती है चौबीसों घड़ी ।

मंभली बहू—और छोटी बहू ने अपने मायके के बड़े-बड़े कमरों और उनके बहुमूल्य फर्नीचर का बखान किया (हँसती है) और महाशय

परेश की एक भी न चलने दी। बेचारे भीगी बिल्ली बने दादा जी के पास चले गये—खि-हि-हि... खि-हि-हि...

(हंसती है। दूसरी भी उसके साथ हंसती हैं।)

—मैं तो चुपके से चली आयी (मुंह बिचकाकर) जबान है छोटी बहू की या कतरनी... और फिर जब अंग्रेजी बोलने लगती है तो कुछ समझ में ही नहीं आता। परेश बेचारा तो अपना-सा मुंह लेकर रह जाता है। जाने तहसीलदार कैसे बन गया।

इन्दु—बस जबान ही जबान है। बात तो जब है, जब काम भी हो। एफ फाल को कहो तो सौ नाक-भौंह चढ़ाती है। दादा जी ने चार कपड़े धोने को कहा था, वे तो पड़े गुसलखाने में गल रहे हैं।

छोटी भाभी—गुसलखाने में गल रहे हैं! तू उठा क्यों न लायी उन्हें, जा भागकर उठा ला और फटककर आँगन में डाल दे। मैं बहू को समझा दूँगी—इस तरह कैसे चलेगा..... (और भी चिन्ता से)..... परेश ने समझाया नहीं उसे !

इन्दु—परेश की तो जैसे वहाँ बड़ी सुनवाई होती है।

संभली बहू—वह मलमल के थान और छबरो^१ की बात याद है न—अभी तक पड़े हुए हैं। कह-कहकर हार गये परेश महाशय। बहूरानी ने हाथ तक न लगाया उन्हें और वे शर्म के मारे ले जाते नहीं दादा जी के पास। कचहरी में होंगे तहसीलदार, घर में तो अपराधियों से भी गये-बीते हो जाते हैं।

(हंसती है, इन्दु और बड़ी बहू भी हंसती हैं।)

छोटी भाभी—पर दादा जी के कपड़े.....

^१ छबरा—लट्ठाफ के ऊपर का कपड़ा।

बड़ी भाभी—तुम भी बहन बस.....क्या इतना पढ़-लिखकर छोटी बहू कपड़े धोयेगी !

इन्दु—क्यों ! उसके हाथ नमक मिट्टी के हैं जो गल जायेंगे ।

(बाहर से दादा के हुक्का गुड़गुड़ाने की आवाज आती है ।)

छोटी भाभी—तुम चलो इन्दु—कपड़े फटककर अहाते में डाल दो । शायद उन्हें जरूरत हो । माँगेंगे तो.....मैं बहू को समझा दूंगी ।

(पर्दा गिरता है ।)

दूसरा दृश्य

[वही बरामदा । दायीं ओर के तख्त पर बिस्तर बिछा हुआ है । दीवार के साथ तकिया लगा है । दादा आराम से तकिया के सहारे बैठे हुक्का पी रहे हैं । उनका मंझला लड़का कर्मचन्द पास बैठा उनके पाँव दाब रहा है । हुक्का पीते-पीते दादा बच्चों को बाहर अहाते में खेलते हुए देख रहे हैं । स्नान-गृह से नल के जल्दी-जल्दी चलने की आवाज आ रही है । शायद कोई बच्चा उसे चला रहा है । क्योंकि कर्मचन्द की भुकुटी तन गयी है ।

पर्दा उठने के कुछ क्षण बाद तक नल के चलने और हुक्का के गुड़-गुड़ाने की आवाज आती है । फिर.....]

कर्मचन्द—(क्रोध से) बस करो जगदीश ! क्या खट-खट लगा रक्खी है ? जरा आराम करने दो । अभी-अभी खाना खाकर बैठे हैं कि तुम.....

दादा—(हुक्के की नली को हटाकर उधर देखते हुए) नहीं नहीं खेलने दो बच्चों को । (फिर हुक्का गुड़गुड़ाते हैं ।) बच्चे.....हंसते हैं । बरगद की पूरी डाल लाकर आँगन में लगा दी और उसे पानी दे रहे हैं ।.....(हंसते हैं) नहीं जानते कि पेड़ से टूटी डाली जल देने से नहीं पनपती । (हुक्का गुड़गुड़ाते हैं, फिर नली छोड़कर कर्मचन्द से) मैं कहा करता हूँ न बेटा कि एक बार वृक्ष से जो डाली टूट गयी, उसे लाख पानी दो, उसमें वह सरलता न आयेगी और हमारा यह परिवार बरगद के इस महान् पेड़ ही की भाँति है.....

कर्मचन्द—लेकिन शायद अब इस पेड़ से एक डाली टूट कर अलग हो जाय ।

दादा—(चिन्ता से) क्या कहते हो ? कौन अलग हो रहा है ?

कर्मचन्द—शायद छोटा अलग हो जाय ?

दादा—परेस ? पर क्यों—उसे क्या कष्ट है ?

कर्मचन्द—कष्ट उसे तो नहीं, छोटी बहू को है ।

दादा—मुझे किसी ने बताया तक नहीं । यदि कोई शिकायत थी तो उसे वहीं मिटा देना चाहिए था । हल्की-सी खरोंच भी, यदि उस पर तत्काल दवाई न मिले और लगा दी जाय, बढ़कर एक बड़ा घाव बन जाती है और वही घाव नासूर हो जाता है, फिर लाख मरहम लगाओ ठीक नहीं होता ।

कर्मचन्द—मैं अच्छी तरह तो नहीं जानता, पर जहाँ तक मेरा विचार है, छोटी बहू के मन में दर्प की मात्रा जरूरत से कुछ ज्यादा है । मैंने वह मलमल के थान और रजाई के अबरे लाकर दिये थे न ? और सब ने तो रख लिया पर सुना है कि छोटी बहू को पसन्द नहीं आये । अपने मायके के घराने को शायद वह इस घराने से बड़ा समझती है और इस घर को घृणा की दृष्टि से देखती है ।

दादा—बेटा, बड़प्पन बाहर की वस्तु नहीं—बड़प्पन तो मन का होना चाहिए; और फिर बेटा, घृणा को घृणा से नहीं मिटाया जा सकता । बहू तभी पृथक् होना चाहेगी जब उसे घृणा के बदले घृणा दी जायगी । लेकिन यदि उसे घृणा के बदले स्नेह मिले तो उसकी समस्त घृणा बुधली पड़कर लुप्त हो जायगी । (हुक्का गुड़गुड़ाते हैं) और महानता भी बेटा, किसी से मनवायी नहीं जा सकती, अपने व्यवहार से अनुभव करायी जा सकती है । ठूँठ वृक्ष आकाश को छूने पर भी अपनी महानता का सिक्का

हमारे विलों पर उस समय तक नहीं बैठा सकता, जब तक अपनी शाखाओं में वह ऐसे बसे नहीं लाता, जिनकी शीतल सुखद छाया मन के सारे ताप को हर ले और जिसके फूलों की भीनी-भीनी सुगन्ध हमारे प्राणों में पुलक भर दे ।

भाषी—(बाहर से) दादा जी, मल्लू और जगदीश ने मेरा बट का पेड़ उखाड़ दिया (मल्लू से लड़ते हुए चीख-चीखकर) क्यों उखाड़ा तूने मेरा पेड़—क्यों उखाड़ा.....?

दादा—पेड़ ? (हँसते हैं ।)..... बच्चे !! (हँसते हैं ।)
ठहरो भाषी, लड़ो मत बेटा । जाना कर्मचन्द जरा हटाना दोनों को.....

[कर्मचन्द जाता है । दादा फिर हुक्के की नली मुँह से लगा लेते हैं—परेश नीचे नजर किये प्रवेश करता है ।]

दादा—आम्रो बेटा परेश, वह मैंने एक दो कपड़े भेजे थे न, तनिक बेखना वह ने उन्हें धो डाला है या नहीं । धो डाले हों तो ले आम्रो जरा । फिर मैं तुमसे बात करूँगा ।

परेश—मैं लज्जित.....

दादा—नहीं धुले तो फिर धुल जायेंगे बेटा ! आम्रो इधर बैठो मेरे पास । मैं तो तुम्हें बुलाने ही वाला था । आम्रो आम्रो, इधर आकर बैठो ।

[फिर हुक्का गुड़गुड़ाने लगते हैं । परेश चुपचाप आकर दादा के पास बैठ जाता है ।]

दादा—(हुक्का गुड़गुड़ाना छोड़कर) मुझे कर्मचन्द से अभी पता चला है कि तुम्हारी बहू को रजाई के अबरे और मलमल का धान पसन्द नहीं आया । तुम्हारे ताऊ ठहरे पुराने समय के आबनी, वे नये फैशन की

चीजें खरीदना क्या जानें ? जभी तो मैं कहता हूँ कि छोटी बहू को बाजार ले जाओ । वह स्वयं अपनी पसन्द की चीजें ले आर्येंगी ।

परेश—जी.....

दादा—(हुक्के का कश लगाकर) और मैं सोचता था कि अब बहू आ गयी है तो इन्द्र का दहेज तैयार करने में भी सहायता देगी ।

परेश—जी मैं इसलिए आया था

दादा—हाँ-हाँ कहो, भिन्नकते क्यों हो ?

परेश—जी बात यह है कि इस घर में बेला का मन नहीं लगता ।

दादा—इतनी जल्दी उसका मन कैसे लग सकता है बेटा । अभी के दिन हुए हैं उसे आये ? और फिर बेटा मन लगता नहीं लगाया जाता है ।

परेश—वह मन लगाती ही नहीं ।

दादा—तो हमें उसका मन लगाना चाहिए । वह एक बड़े घर से आयी है । अपने पिता की एकलौती बेटाई है । कभी नाते-रिश्तेदारों में नहीं रही । इस भीड़-भाड़ से वह घबराती होगी । इतने कोलाहल से वह ऊब जाती होगी । हम सब मिलकर इस घर में उसका मन लगायेंगे ।

परेश—उसे कोई भी पसन्द नहीं करता । सब उसकी निन्दा करते हैं । अभी मेरे पास माँ, बड़ी ताई, मँझली ताई, बड़ी भाभी, मँझली भाभी, इन्दु, रजवा—सब आयी थीं । सब उसकी शिकायत करती थीं—ताने देती थीं कि तू उसके हाथ बिक गया है, तू उसे कुछ नहीं समझाता और इधर वह उन सब से दुखी है, कहती है—सब मेरा अपमान करती हैं, सब मेरी हँसी उड़ाती हैं । मेरा समय नष्ट करती हैं । मैं ऐसा महसूस करती हूँ, जैसे मैं परायों में आ गयी हूँ । अपना एक भी सुभे दिखायी नहीं देता ... आप मेरी मानें तो

दादा—हाँ, हाँ, कहो...

परेश—बात यह है कि वह आजादी चाहती है ! दूसरों का हस्तक्षेप, दूसरों की आलोचना उसे पसन्द नहीं ...!

(दादा सिर्फ हुक्का गुड़गुड़ाते हैं ।)

—वह समझती है कि वह छोटी बहू है, इसलिए बस उसकी आलोचना करना, उसे आदेश देना अपना कर्तव्य समझते हैं ।...

(दादा सिर्फ हुक्का गुड़गुड़ाते हैं ।)

—और वह अपनी पृथक् गृहस्थी बसाना चाहती है । जहाँ उसे कोई रोकने वाला न हो । जहाँ वह स्वेच्छापूर्वक अपना जीवन बिता सके । वह चाहती है कि यदि बाग वाला मकान उसे मिल जाय तो वह सुख और शान्ति से रहे । मैं तो सदैव यहाँ बना न रहूँगा, कुछ ही दिनों की बात है । मेरी तबीयती हो जायगी । उतने दिन को यदि आप बाग वाले मकान का प्रबन्ध कर दें !...उसकी सारी उद्विग्नता, अन्यमनस्कता और तिल-मिलाहट में उसकी यही इच्छा काम करती है । अब मैं उसे कैसे समझाऊँ ।...

दादा—(कुछ क्षण चुपचाप हुक्का गुड़गुड़ाते हैं फिर) हैं ! (खाँसते हैं ।) यों तो इस झँझट से छुटकारा पाने का सरल उपाय यही है कि तुम्हें बाग वाला मकान दे दिया जाय—वह पड़ा भी बेकार है और अभी मैं उससे किसी तरह का काम लेने का भी इरादा नहीं रखता, पर तुम जानते हो बेटा, मेरे जीते जी यह असम्भव है (फिर हुक्का गुड़गुड़ाते हैं ।) मैं जब अपने परिवार का ध्यान करता हूँ तो मेरे सामने वट का महान् पेड़ घूम जाता है (खाँसकर) शाखाओं, पत्तों, फूलों से भरा-पुरा (हुक्के के

एक-दो कश लगाते हैं।) और फिर मेरी आँखों के सामने उस महान् वृक्ष की डालियाँ टूटने लगती हैं और वह केवल ठूँठ रह जाता है। (स्वर धीमा, जैसे अपने आप से कह रहे हैं।) और मैं सिहर उठता हूँ। न बेटा, मैं अपने जीते जी यह सब न होने दूँगा। तुम चिन्ता न करो। मैं सबको समझा दूँगा—घर में किसी को तुम्हारी पत्नी का तिरस्कार करने का साहस न होगा। कोई उसका समय नष्ट न करेगा। ईश्वर की अपार कृपा से हमारे घर सुशिक्षित, सुसंस्कृत बहू आयी है तो क्या हम अपनी मूर्खता से उसे परेशान कर देंगे? तुम जाओ बेटा, किसी प्रकार की चिन्ता को मन में स्थान न दो। मैं कोई न कोई उपाय ढूँढ़ निकालूँगा। तुम विश्वास रखो, वह अपने आपको परायों से घिरी अनुभव न करेगी। उसे वही आदर-सत्कार मिलेगा जो उसे अपने घर में प्राप्त था।

परेश—जैसा आप उचित समझें।

दादा—और देखो, तुम स्वयं भी इस बात का ध्यान रखना, तुम्हारी किसी बात से उसका मन न दुखे। कोई भी ऐसी बात न करो जिसे वह अपना अपमान समझे।

(परेश चलने को होता है।)

—और तुम उसे साथ ले जाकर नगर से सब चीजें खरीद लाओ। शेष की चिन्ता तुम न करो, मैं कोई न कोई रास्ता अवश्य निकाल लूँगा।

परेश—जैसी आपकी इच्छा।

[चला जाता है। दादा फिर हुक्का गुड़गुड़ाने लगते हैं। हुक्के के कश लम्बे हैं, जो इस बात के साक्षी हैं कि दादा हुक्का पीने के साथ-साथ सोच भी रहे हैं।]

दादा—(जैसे अचानक उन्हें कुछ सूझ गया हो ।) रजवा.....
रजवा.....(फिर हुक्का गुड़गुड़ाते हैं, रजवा नहीं आती, फिर आवाज देते हैं) रजवा...रजवा.....

रजवा—(दूर से) जी आयी ।

(भागती हुई-सी प्रवेश करती है ।)

दादा—छोटी बहू के अतिरिक्त सबको यहाँ भेज दो । कहो कि सब काम छोड़कर मेरे पास आयें (रजवा जाने लगती है) और सुनो; कोई न रहे.....सबसे कहना, कुछ क्षण के लिए अवश्य यहाँ आ जायें ।

रजवा—जी मैं अभी जाकर सब से कह बेती हूँ ।

[चली जाती है । दादा फिर हुक्का गुड़गुड़ाने लगते हैं । नल से किसी के कपड़े धोने की आवाज आने लगती है । दादा और भी लम्बे-लम्बे कश लेते हैं । धीरे-धीरे कुटुम्ब के प्राणी आने लगते हैं । बालक और युवक तख्त और चारपाइयों पर बैठते हैं और स्त्रियाँ बरामदे के फर्श पर । रजवा उनके बैठने के लिए मोढ़े और चटाइयाँ लाकर बिछा देती है ।]

दादा—(हुक्का पीना छोड़कर) इन्दु कहाँ है, वह नहीं बीखती ?

[फिर हुक्का गुड़गुड़ाने लगते हैं और एक नजर सबको देखते हैं । रजवा स्नानगृह को जानेवाले दरवाजे में जाकर इन्दु को आवाज देती है । कपड़े धोने का स्वर जो इस बीच निरन्तर आता रहा है, सहसा बन्द हो जाता है ।]

इन्दु—(बाहर से) जी आयी (अन्दर आकर) मैं नल पर थी, कपड़े धोने लगी थी ।

दादा—(एक कश खींचकर) बैठो बेटा (एक-दो क्षण तक हुक्का गुड़गुड़ाते हैं) मैंने आज तुम सब को एक विशेष अभिप्राय से बुलाया है ।

मुझे यह सुनकर बड़ा दुःख हुआ कि छोटी बहू का मन यहाँ नहीं लगा ।

इन्दु—दादा जी.....

दादा—इन्दु बेटा, मुझे अपनी बात कह लेने दो । मुझे यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि छोटी बहू का मन यहाँ नहीं लगा । दोष उसका नहीं, दोष हमारा है । वह एक बड़े घर की बेटाई है, अत्यधिक पढ़ी-लिखी है । सबसे आदर पाती और राज करती आयी है । यहाँ वह केवल छोटी बहू है । यहाँ उसे हर एक का आदर करना पड़ता है; हर एक से दबना पड़ता है; हर एक का आदेश मानना पड़ता है—यहाँ उसका व्यक्तित्व दबकर रह गया है । मुझे यह बात पसन्द नहीं (कुछ क्षण हुक्का गुड़गुड़ाते हैं फिर—) बेटा, बड़ा वास्तव में कोई उमर से या दर्जे से नहीं होता । बड़ा तो बुद्धि से होता है, योग्यता से होता है । छोटी बहू उम्र में न सही, अकल में हम सबसे निश्चय ही बड़ी है । हमें चाहिए कि उसकी बुद्धि से, उसकी योग्यता से लाभ उठायें । मेरी इच्छा है कि उसे यहाँ वही आदर-सत्कार मिले जो उसे अपने घर में प्राप्त था । सब उसका कहना मानें, उससे परामर्श लें और मैं प्रसन्न हूँगा, यदि उसका काम भी तुम लोग आपस में बाँट लो और उसे पढ़ने-लिखने का अधिक अवसर दो । उसे अनुभव ही न हो कि वह किसी दूसरे घर में, किसी दूसरे वातावरण में आ गयी है ।

(फिर कुछ क्षण हुक्का गुड़गुड़ाते हैं, फिर)

—बेटा यह कुटुम्ब एक महान् वृक्ष है । हम सब इसकी डालियाँ हैं । डालियों ही से पेड़; पेड़ है और डालियाँ छोटी हों चाहे बड़ी, सब उसकी छाया को बढ़ाती हैं । मैं नहीं चाहता, कोई डाली इससे टूटकर पृथक् हो जाय । तुम सदैव मेरा कहा मानते रहे हो । बस यही बात मैं

कहना चाहता हूँ....यदि मैंने सुन लिया—किसी ने छोटी बहू का निरादर किया है; उसकी हँसी उड़ायी है या उसका समय नष्ट किया है तो इस घर से मेरा नाता सदा के लिए टूट जायगा.....अब तुम सब जा सकते हो ।

(फिर हुक्का गुड़गुड़ाते हैं । सब धीरे-धीरे जाने लगते हैं ।)

दादा—इन्दु बेटा और मँझली बहू, तुम जरा बैठो ।

(दोनों के अतिरिक्त शेष सब चले जाते हैं ।)

—मँझली बहू, तुम अपनी हँसी को उन लोगों तक ही सीमित रखो बेटा, जो उसे सहन कर सकते हैं । बाहर के लोगों पर घर में बैठकर हँसा जा सकता है, किन्तु घर के लोगों को तब तक हँसी का निशाना बनाना ठीक नहीं, जब तक वे पूर्णतया घर का अंग न बन जायें और इन्दु बेटा, तेरी छोटी भाभी बड़ी बुद्धिमती, सुशिक्षित और सुसंस्कृत है; तुम्हें उसकी हँसी उड़ाने, उससे लड़ने-भगड़ने के बदले उसका आदर करना चाहिए; उससे ज्ञानार्जन करना चाहिए । तुम दोनों को मैं इस विषय में विशेषकर सावधान रहने का आदेश करता हूँ ।

(फिर हुक्का गुड़गुड़ाने लगते हैं । फिर क्षण भर बाद)

—अब तुम जाओ और देखो फिर मुझे शिकायत का अवसर न मिले (गला भर आता है ।) यही मेरी आकांक्षा है कि सब डालियाँ साथ-साथ बढ़ें, फलें-फूलें, जीवन की सुखद, शीतल वायु के परस से भूमें और सर-सायें ! पेड़ से अलग होने वाली डाली की कल्पना ही मुझे सिहरा बेती है ।

(फिर हुक्का गुड़गुड़ाने लगते हैं ।)

इन्दु—हमें क्षमा कीजिए दादाजी, हमारी ओर से आपको कभी शिकायत का अवसर न मिलेगा ।

(दोनों चली जाती हैं। दादा कुछ देर हुक्का गुड़गुड़ाते हैं, फिर बाहर खेलते हुए बच्चों को आवाज देते हैं।)

दादा—भाषी, मल्लू, जगदीश, आओ आज तुम्हें एक कहानी सुनाएँ.....बरगद के पेड़ और उसके बच्चों की।

भाषी—(दरवाजे से भाँक कर) हम सुन चुके हैं। हम नहीं आते। हर बार वही कहानी.....

मल्लू—चाँद राजा, तारा राजा की सुनाओ तो आयें। हर बार वही कहानी (नकल उतार कर) एक था बरगद का पेड़

(हँसते हुए अदृश्य हो जाते हैं।)

दादा—(हँसते हैं) यही कहानी—यही कहानी तो कुटुम्ब का, समाज का, राष्ट्र का निर्माण करती है। यही तो जीवन को सुदृढ़, विशाल और महान् बनाती है।

(हुक्का गुड़गुड़ाने लगते हैं)

पर्दा गिरता है।

— — —

तीसरा दृश्य

[वही बरामदा—दोनों तख्त पूर्ववत् खिड़कियों के बराबर रखे हुए हैं और चारपाइयाँ वैसे ही दीवार के साथ लगी खड़ी हैं। हाँ, कुर्सी मध्य में आ गई है—लगता है कि इस पर छोटी बहू—बेला—बैठी धूप ले रही थी—किन्तु पर्दा उठने पर वह आकुलता से बरामदे में घूमती हुई दिखाई देती है—एक हाथ में पुस्तक है, मानो पढ़ते-पढ़ते कोई विचार आ जाने से उठ कर घूमने लगी हो।]

बेला—(अपने आप से) मैं किन लोगों में आ गयी हूँ ? ये कैसे लोग हैं...कुछ भी समझ नहीं पाती...आज कुछ हैं कल कुछ ..पल में तोला, पल में माशा...इनका कुछ भी तो पता नहीं चलता।

(फिर सोचती हुई धीरे-धीरे घूमती है।)

—गर्म होते हैं तो आग बन जाते हैं और नम होते हैं तो मोम से भी कोमल दिखायी देते हैं। आज जिस बात को बुरा कहते हैं; कल उसी की प्रशंसा करते हैं।—मैं तो तंग आ गयी इन लोगों से।

[जाकर फिर कुर्सी पर बैठ जाती है और पुस्तक खोल लेती है। अन्दर गैलरी से उसकी सास, छोटी भाभी आती हैं।]

छोटी भाभी—तुम ठीक कहती थीं बेटो, इस रद्दी सामान से बैठक बैठक नहीं, कबाड़ी का गोदाम दिखायी देती थी। सोचती थी कि यह सामान इतने दिनों से इस कमरे में पड़ा है, कुछ ऐसा बुरा भी नहीं और इस पर इतनी बेर से सब बैठते आ रहे हैं, कहीं दादा जी बुरा न मानें. पर अच्छा किया तमने जो बग्न सब उठा दिया। मैंने परेश से

कह दिया है—तुम उसके साथ जाकर अपनी रुचि का सामान खरीद लाओ। यह सब मैं रजवा से कहकर सुरेश के कमरे में भिजवा देती हूँ। कई बार निगोड़ी इन्हीं कुर्सियों के लिए मुझसे रूठ चुका है।

बेला—आप बैठिये माँ जी.....।

छोटी भाभी—बस तुम बैठो बेटो ! मैं तो योंही तुम्हें इधर बैठे देख-कर चली आयी। अनाज पड़ा है उसे फटकना है; मिर्चें पड़ी हैं, उन्हें कूटना है; मक्खन कई दिनों का इकट्ठा हो गया है, उसका घी बनाना है—बीसों दूसरे काम हैं और दिन ढल रहा है। मैं सोचती थी, तुमने मेरी बात का बुरा न माना हो। वास्तव में बेटो, रजवा मेरे पास आकर फूट-फूट कर रो दी। नौकरानी समझदार, विश्वसनीय और आज्ञाकारी है, किन्तु जो काम उसने कभी किया ही न हो, वह उससे किस प्रकार हो सकता है ?

बेला—(उठती हुई) आप बैठिये तो.....।

छोटी भाभी—(उसके कंधों पर हाथ रखकर उसे बैठाते हुए) बैठो-बैठो बेटो, कष्ट न करो। मैं तुम्हारा अधिक समय नष्ट न करूँगी। मैं तो केवल तुमसे उसकी सिफारिश करने आयी थी। भावुक स्त्री है, जल्दी ही बात का बुरा मान जाती है। तुम यों करना कि ज्यों ही नया फर्नीचर आ जाये, अपने सामने लगवा कर रजवा को एक बार भाड़ना-बुहारना सिखा देना। फिर वह गलती नहीं करेगी, न हो तो कभी मुझे बता देना। मैं उसे समझा दूँगी।

बेला—नहीं, नहीं आप... ..।

सास—तुम पढ़ी-लिखी समझदार हो बेटो, इसलिए तुमसे इतना कह दिया है। यों तो तुम न चाहो तो कोई दूसरा प्रबन्ध हो जायगा। तुम इस बात की तनिक भी चिन्ता न करो।

(चलने को उद्यत होती हैं)

बेला—आप बैठिये तो सही... ..

सास—नहीं, नहीं, तुम अपना पढ़ो। मैं वृथा तुम्हारा समय नष्ट न करूँगी।

(चली जाती हैं।)

बेला— (पुस्तक बन्द करके लम्बी साँस लेती हुई) जैसे अपने आप) इन लोगों की कुछ भी तो समझ में नहीं आती। ये माँ जी एकदम कैसे बदल गयीं ? अभी परसों मुझे इसी रजवा के लिये डाँट रही थीं। इनका कुछ भी तो पता नहीं चलता।

[फिर बैठने लगती है। बड़ी बहू और मँझली भाभी बाहर के दरवाजे से प्रवेश करती है।]

मँझली भाभी—क्यों बेटा, अब रजवा कुछ काम सीख गई है या नहीं। (जरा हँसती है) बुढ़िया है तो सयानी... ..

बड़ी बहू—आपने इन्दु से ठीक ही कहा था। हमें वास्तव में काम की परख नहीं, पर अब... ..

बेला—आइये इधर बैठिये, चारपाई सरका लीजिये।

मँझली भाभी—(वैसे ही खड़े-खड़े) मैंने एक अनुभवो नौकरानी खोज लाने के लिए कह दिया है जो नये फैशन के बड़े घरों में काम कर चुकी हो। वास्तव में बहू; दादा जी पुराने नौकरों के हक में हैं—दयान्त-दार होते हैं और विश्वसनीय। हमारे पास पीढ़ी-दर-पीढ़ी काम करते आ रहे हैं। इस रजवा की सास भी यहीं काम करती थी, अब रजवा की बहू भी यहीं काम करती है... ..

बड़ी बहू—मैं कहती हूँ बहन जी; आप रजवा की बहू को ही अपने पास क्यों नहीं रख लेतीं... .. उसकी उमर भी कम है और काम भी वह जल्दी सीख जायगी ।

बेला—(अन्यमनस्क-सी) नहीं, नये नौकर की आवश्यकता नहीं । रजवा काम सीख जायगी, (कुछ चिढ़कर) पर आप खड़ी क्यों हैं ?

मँझली भाभी—हम तुम्हारा हर्ज न करेंगे... ..

बेला—(और भी चिढ़कर) मेरा कुछ हर्ज नहीं होता ।

बड़ी बहू—हम आपसे छोटी हैं, वर्ग में भी और बुद्धि में भी... ..

बेला—(रुआँसी आवाज में) आप मुझे क्यों काँटों में घसोटती हैं आप मेरे साथ क्यों परायों का-सा व्यवहार करती हैं... ..

(उठ खड़ी होती है ।)

बड़ी बहू—बैठिए—बैठिए, मँझली भाभी, आप भी बैठिए... ..

बेला—मैं चलती हूँ... ..

[रुलाई को रोककर आँखों पर रुमाल रखे जल्दी-जल्दी चली जाती है]

मँझली भाभी—(जैसे अपने आपसे) परायों का सा... ..

[बाहर से मँझली बहू के कहकहे की आवाज आती है—दूसरे क्षण वह इन्दु और पारो के कन्धे पर झूलती हुई बाहर के दरवाजे से आती है ।]

इन्दु— सच... ..

मँझली बहू—(हँसी रोककर) और क्या मैं झूठ कह रही हूँ ? मैंने अपनी इन दोनों आँखों से देखा (हँसती है ।) मलावी ने सारी की सारी छत फावड़े से खोद डाली और बंसीलाल महाशय मुँह देखते रह गये ।

(सब ठहाका मार कर हंस पड़ती हैं ।)

बड़ी बहू—भाई मुझे भी बताना क्या किया मलावी ने... ..सच !

[मँझली बहू चारपाई बिछाकर उसमें धँस जाती है । उसकी एक ओर इन्दु और दूसरी ओर पारो बैठ जाती हैं । मँझली भाभी कुर्सी पर बैठी हैं और बड़ी बहू खड़ी रहती हैं ।]

मँझली भाभी—(कुर्सी को जरा खिसकाकर समीप होते हुए)
बंसीलाल के सामने उखाड़ कर फेंक दी छत मलावी ने ?

मँझली बहू—मैं कहती हूँ...मुँह देखते रह गये बंसीलाल महाशय;
ताका किये सुटर-सुटर....

(सब ठहाका लगाती हैं ।)

बड़ी बहू—अरे कौनसी छत खोद डाली यह तो बताओ...

मँझली बहू—रसोई की और कौन सी । अभी दो घंटे भी नहीं हुए कि राज-मजदूर छत डाल कर गये थे और बंसीलाल कारीगरों और मजदूरों से निपट कर अभी दुकान को गया था कि आ गयी उधर से मलावी मारोमार करती । जाने किसने उसे जाकर बताया कि तुम्हारे देवर ने अपनी रसोई पर छत डाल ली है । लेके फावड़ा बस सारी की सारी छत उसने खोद डाली । बंसीलाल तब पहुँचे जब अन्तिम कड़ी भी उखड़ चुकी थी । तब क्या करते—बस ताका किये सुटर-सुटर.....

(मँझली भाभी को छोड़कर सब हँसती हैं ।)

मँझली भाभी—पर बंसीलाल का लड़का.....

मँझली बहू—गली के सिरे पर खड़ा खंभ ठोंक रहा है ।

(जंघा पर हाथ मार कर बताती है कि कैसे खंभ ठोंक रहा है ।)

इन्दु—खंभ ठोंक रहा है ?

मंभली बहू—(कहकहा लगाती है ।) सच, खंभ ठोंक रहा है और हवा ही में ललकार रहा है कि मैं ड्योढ़ी की छत खोद डालूंगा; मैं मकान को खण्डहर बना दूंगा; मैं यह कर दूंगा, मैं वह कर दूंगा, और इधर मलावी कमर कसे खड़ी है कि आये जो माई का लाल है, रखे पाँव घर के भीतर.....

(सब हँसती हैं ।)

इन्दु—(अंगुली आँठों पर रखकर) शश...श...श...भाभी आ रही है ।

[हँसी एकदम बन्द हो जाती है; सन्नाटा छा जाता है—बेला एक हाथ में वन्द किताब थामे धीरे-धीरे सीढ़ियाँ उतरती है ।]

बेला—क्यों जीजी, आप चुप हो गयीं (जरा हँसकर) किस बात पर यह कहकहे लगाये जा रहे हैं ?

मंभली भाभी—(कुर्सी से उठकर) योही हंस रही थीं । आओ इधर कुर्सी पर बैठो ।

बेला—नहीं-नहीं आप बैठिये । मैं इधर तख्त पर बैठ जाती हूँ ।

मंभली बहू—(जल्दी से उठकर) आइए-आइए, आप इधर बैठिए ।

इन्दु और पारो—(दोनों चारपाई से उठ जाती हैं ।) आइए-आइए आप इधर बैठिए ।

[फिर नीरवता छा जाती है जिसमें एक प्रकार की घुटन है । बेला बाहर की ओर चल पड़ती है ।]

इन्दु—बैठिए भाभी जी, आप चली क्यों ?

बेला—(मुड़कर क्लान्त तथा भारी स्वर में) मैं तो उधर ही जा रही थी योंही जाते-जाते खड़ी हो गयी । मैं आपकी हंसी में बाधा नहीं डालना चाहती । (स्वर में खिन्न हंसी के साथ) आप हंसिए, ठहाके मारिये ।

(चुपचाप अहाते के दरवाजे से निकल जाती है ।)

मँझली बहू—मैं कहती थी न कि इस ओर न आओ ? मेरी सुई आदत हुई हँसने की ।

इन्दु—अब एक यही जगह थी बैठने को.....

मँझली बहू—हम हँसती हैं तो हँसती हैं दिल से और छोटी बहू के पढ़ने-लिखने में बाधा पड़ती है । मैं कहती हूँ, दादा जी को यदि पता चल गया कि हमारे यहाँ बैठने से छोटी बहू के पढ़ने में खलल आता है तो वे

इन्दु—किन्तु यही एक जगह थी पढ़ने वाली.....

मँझली बहू—तुम भूल गयीं,—हमें ही तो दादाजी ने खास तौर पर सतर्क रहने को कहा था (कहकहा लगाकर हँस पड़ती है ।) मैं कहती हूँ, चलो मेरे कमरे में ।

इन्दु—सुभे तो दादा जी के कपड़े धोने हैं, मैं चली ।

(जल्दी-जल्दी बाहर की ओर चली जाती है ।)

मँझली भाभी—ठीक है । तुम लोग अब यहाँ इतना न बैठा करो (बड़ी बहू से) हम तो बहू गोदाम में जा रही थीं, चलो गेहूँ छंटवा लें । छोटी बहन तो कब की गयी हुई है । फिर तो अस्त हो जायगा दिन, और महरियाँ चली जायेंगी ।

बड़ी बहू—मैं तो फँस गयी मँझली की बातों में.....चलो.....
चलो ।

(दोनों चली जाती हैं ।)

मँझली बहू—मैं कहती हूँ पारो, चल मेरे कमरे में । वहाँ चल कर बैठें ।

पारो—(चलते हुए) मुझे तो जाना है भाभी । लल्ला आ गया होगा, न मिली तो चिल्लायेगा ।

मँझली बहू—(अपने आप से) यह छोटी बहू तो उकाब सी आकर हमको डरा गयी ।

[पारो चली जाती है । बाहर से बड़ी भाभी आती हुई दिखायी देती है, मँझली बहू भाग कर उसके पास जाती है ।]

—बड़ी भाभी, सुनी तुमने मलावी की बात, खोद डाली उसने सारी की सारी छत ।

(कहकहा लगाती है ।)

बड़ी भाभी—मलावी ने छत खोद डाली.....

मँझली बहू—(उसे अपने साथ लेकर कमरे की ओर जाती हुई ।)
हाँ, हाँ अभी राज-मजदूर छत बना कर गये थे कि आ गयी मलावी मारो मार करती

बड़ी भाभी—पर.....

मँझली बहू—चलो मेरे कमरे में । वहाँ चलकर सब बताती हूँ ।
यहाँ तो छोटी बहू की पढ़ाई में बाधा पड़ती है ।

[उसे साथ लेकर अपने कमरे की ओर जाती हैं । बाहर से परेश और बेला बातें करते प्रवेश करते हैं ।]

बेला—(आर्द्र कंठ से) आप मुझे मेरे मायके भेज दीजिए ।

मुझे ऐसा लगता है जैसे मैं अपरिचितों में आ गयी हूँ ! कोई मुझे नहीं समझता, किसी को मैं नहीं समझती ।

परेश—आखिर बात क्या है ? कुछ कहो भो ।

बेला—मैं जाती हूँ तो सब खड़ी हो जाती हैं । बड़ी भाभी, मंझली भाभी और माँ जी तक ! मेरे सामने कोई हँसता नहीं, कोई मुझसे अधिक समय तक बात नहीं करना चाहता । सब मुझसे ऐसा डरती हैं जैसे मुर्गी के बच्चे बाज से । अभी-अभी सब हँस रही थीं, ठहाके पर ठहाके मार रही थीं, मैं गयी तो सब ऐसे सन्न रह गयीं जैसे भरी सभा में किसी ने चुप की सीटी बजा दी हो ।

परेश—पर इसमें.....

बेला—और कोई मुझे काम को हाथ नहीं लगाने देती । तनिक-सा भी काम करने लगूँ तो सब भागी आती हैं । सब मेरा इस प्रकार आदर करते हैं, मानो मैं ही इस घर में सबसे बड़ी हूँ ।

परेश—मैं नहीं समझता तुम क्या चाहती हो ? तुम्हें शिकायत थी, कोई तुम्हारा आदर नहीं करता, अब सब तुम्हारा आदर करते हैं । तुम्हें शिकायत थी, तुम्हें सबसे दबना पड़ता है, अब सब तुमसे दबते हैं । तुम्हें शिकायत थी, तुम सब का काम करती हो, अब सब तुम्हारा काम करते हैं । आदर सत्कार, आराम—न जाने तुम और क्या चाहती हो ?

(तेजी से सीढ़ियाँ चढ़ जाता है ।)

बेला— (निढाल होकर कुर्सी में धंस जाती है ।) न जाने मैं क्या चाहती हूँ ? (सिसकने लगती है) न जाने मैं क्या चाहती हूँ ? पर मैं इतना जानती हूँ कि मैं यह सब आदर, सत्कार, सुख, आराम नहीं चाहती !

बड़ी बहू—मैं तो फँस गयी मँझली की बातों में.....चलो.....
चलो ।

(दोनों चली जाती हैं ।)

मँझली बहू—मैं कहती हूँ पारो, चल मेरे कमरे में । वहाँ चल कर बैठें ।

पारो—(चलते हुए) मुझे तो जाना है भाभी । लल्ला आ गया होगा, न मिली तो चिल्लायेगा ।

मँझली बहू—(अपने आप से) यह छोटी बहू तो उकाब सी आकर हमको डरा गयी ।

[पारो चली जाती है । बाहर से बड़ी भाभी आती हुई दिखायी देती है, मँझली बहू भाग कर उसके पास जाती है ।]

—बड़ी भाभी, सुनी तुमने मलावी की बात, खोद डाली उसने सारी की सारी छत ।

(कहकहा लगाती है ।)

बड़ी भाभी—मलावी ने छत खोद डाली.....

मँझली बहू—(उसे अपने साथ लेकर कमरे की ओर जाती हुई ।)
हाँ, हाँ अभी राज-मजदूर छत बना कर गये थे कि आ गयी मलावी मारो मार करती

बड़ी भाभी—पर.....

मँझली बहू—चलो मेरे कमरे में । वहाँ चलकर सब बताती हूँ ।
यहाँ तो छोटी बहू की पढ़ाई में बाधा पड़ती है ।

[उसे साथ लेकर अपने कमरे की ओर जाती हैं । बाहर से परेश और बेला बातें करते प्रवेश करते हैं ।]

बेला—(आर्द्र कंठ से) आप मुझे मेरे मायके भेज दीजिए ।

मुझे ऐसा लगता है जैसे मैं अपरिचितों में आ गयी हूँ ! कोई मुझे नहीं समझता, किसी को मैं नहीं समझती ।

परेश—आखिर बात क्या है ? कुछ कहो भो ।

बेला—मैं जाती हूँ तो सब खड़ी हो जाती हैं । बड़ी भाभी, मंझली भाभी और माँ जी तक ! मेरे सामने कोई हँसता नहीं, कोई मुझसे अधिक समय तक बात नहीं करना चाहता । सब मुझसे ऐसा डरती हैं जैसे मुर्गी के बच्चे बाज से । अभी-अभी सब हँस रही थीं, ठहाके पर ठहाके मार रही थीं, मैं गयी तो सब ऐसे सन्न रह गयीं जैसे भरी सभा में किसी ने चुप की सीटी बजा दी हो ।

परेश—पर इसमें.....

बेला—और कोई मुझे काम को हाथ नहीं लगाने देती । तनिक-सा भी काम करने लगूँ तो सब भागी आती हैं । सब मेरा इस प्रकार आदर करते हैं, मानो मैं ही इस घर में सबसे बड़ी हूँ ।

परेश—मैं नहीं समझता तुम क्या चाहती हो ? तुम्हें शिकायत थी, कोई तुम्हारा आदर नहीं करता, अब सब तुम्हारा आदर करते हैं । तुम्हें शिकायत थी, तुम्हें सबसे दबना पड़ता है, अब सब तुमसे दबते हैं । तुम्हें शिकायत थी, तुम सब का काम करती हो, अब सब तुम्हारा काम करते हैं । आदर सत्कार, आराम—न जाने तुम और क्या चाहती हो ?

(तेजी से सीढ़ियाँ चढ़ जाता है ।)

बेला— (निढाल होकर कुर्सी में धँस जाती है ।) न जाने मैं क्या चाहती हूँ ? (सिसकने लगती है) न जाने मैं क्या चाहती हूँ ? पर मैं इतना जानती हूँ कि मैं यह सब आदर, सत्कार, सुख, आराम नहीं चाहती !

[बाहों में मुंह छिपाकर सिसकती है ! इन्दु हाथ में कुछ मैले कपड़े लिये हुए बाहर के दरवाजे से प्रवेश करती है ।]

इन्दु—भाभी जी.....

बेला—(उसी प्रकार चुप बैठी रहती है ।)

इन्दु—(बेला के कंधे को हिलाकर) भाभी जी.....भाभी जी ...
(बेला मुंह ऊपर उठाती है ।)

इन्दु—हैं, भाभी जी, आप तो रो रही हैं ?

बेला—(आँखें पोंछ कर) नहीं मैं रो नहीं रही, पर इन्दु परमात्मा के लिए मुझे 'जी-जी' करके न बुलाया करो ।

इन्दु—लो भला यह कैसे हो सकता है । आप मुझसे बड़ी हैं और फिर आप मुझसे कहीं अधिक पढ़ी-लिखी हैं ।

बेला—पहले तो तू मुझे यों 'जी' 'जी' करके नहीं बुलाती थी ?

इन्दु—मैं तो मूर्ख ठहरी भाभी जी । दादा जी ने कहा था.....

बेला—(सहसा चौंककर) दादा जी ने क्या कहा था ?

इन्दु—उन्होंने सबको समझाया था कि घर में सबको आपका आदर करना चाहिए ।

बेला—किन्तु उन्होंने यह सब क्यों कहा ? मैंने तो कभी उनसे इस बात की शिकायत नहीं की ?

इन्दु—शायद छोटे भैया ने उनसे यह कहा था कि आपका जी यहाँ नहीं लगता, आप बाग वाले.....

बेला—ओह ! यह बात है ।

इन्दु—दादा जी और सब कुछ सह सकते हैं किसी का अलग होना नहीं सह सकते—'हम सब एक महान् पेड़ की डालियाँ हैं,' वे कहा

करते हैं, 'और इससे पहले कि कोई डाली टूट कर अलग हो, मैं ही इस घर से अलग हो जाऊँगा' और उन्होंने हम सब को समझाया कि हम आप का आदर करें, काम करें और आपको पढ़ने-पढ़ाने का समय दें ।

बेला—पर मैं तो आदर नहीं चाहती और मैं तो तुम सब के साथ मिलकर काम करना चाहती हूँ ।

इन्दु—यह कैसे हो सकता है भाभी जी?

बेला—(दीर्घ निश्वास छोड़ती हुई) आप लोगों ने मुझे कितना गलत समझा और मैंने आप लोगों को कितना.....

इन्दु—आप कैसी बातें करती हैं । लाइए, कपड़े लाइए । मैं दादा जी के कपड़े धोने जा रही हूँ, साथ ही आपके भी फटक लाऊँ ।

बेला—(चुप सोचती है ।)

इन्दु—भाभी जी.....

बेला—(जैसे मन-ही-मन उसने किसी बात का निश्चय कर लिया हो ।) मैं भी तुम्हारे साथ जाऊँगी, मैं भी तुम्हारे साथ कपड़े धोऊँगी ।

इन्दु—दादा जी नाराज न होंगे.....

बेला—मैं दादा जी से कह दूँगी ।

इन्दु—भाभी जी.....

बेला—मुझे केवल भाभी कहा कर, मेरी प्यारी इन्दु ।

इन्दु—(प्यार से भरे हुए गले के साथ) भाभी.....

बेला—चल कपड़े धोएँ । धूप निकली जा रही है !

इन्दु—पर आपके कपड़े.....

बेला—मेरे कपड़े आज रजवा ने धो दिये थे, शलवार कमीज ही तो थी । चल मैं तेरी सहायता करूंगी ।

[दोनों चली जाती हैं, कुछ क्षण बाद बरामदे में कपड़े धोने का शब्द आने लगता है । दादा गैलरी की ओर से हुक्का गुड़गुड़ाते गुड़गुड़ाते, मल्लू की अंगुली थामे प्रवेश करते हैं ।]

दादा—हाँ बेटा, मेले में ले चलेंगे । जो तू कहेगा, वही खिलौने ले देंगे ।

मल्लू—मैं तो उड़न-खटोला लूंगा ।

(सहसा बाहर के दरवाजे के पास जाकर ठिठक जाते हैं ।)

दादा—(आश्चर्य से) हैं । छोटी बहू.....

इन्दु—(बाहर से) मैंने तो बहुतेरा कहा पर भाभी मानी नहीं ।

दादा—छोटी बहू, इधर आ बेटी !

(शरमाई हुई बेला दरवाजे के पास आ खड़ी होती है ।)

—बेटा कपड़े धोना तुम्हारा काम नहीं, पढ़-लिखकर.... ..

इन्दु—(जो अपनी भाभी के साथ ही आ खड़ी हुई है ।) मैंने बहुतेरा कहा पर भाभी नहीं मानी.... ..

दादा—(जिन्हें इन्दु के स्वर का अनादर अच्छा नहीं लगा ।) इन्दु, तुझे इतनी बार कहा है कि आदर से.... ..

बेला—(भावावेश के कारण रुंधे हुए कंठ से) दादा जी, आप पेड़ से किसी डाली का टूटकर अलग होना पसन्द नहीं करते, पर क्या आप यह चाहेंगे कि पेड़ से लगी-लगी वह डाली सूखकर मुरझा जाय.... ..

(सिसक उठती है, हुक्के की गुड़गुड़ाहट एकदम बन्द हो जाती है)

(पर्दा सहसा गिर पड़ता है ।)

भोर का तारा

(श्री जगदीशचन्द्र माथुर)

श्री जगदीश चन्द्र माथुर हिन्दो'के उन कुशल एकांकीकारों में विशेष-रूप से उल्लेखनीय है जिन्होंने केवल कुछ एकांकी नाटकों को रचना करके अच्छी ख्याति अर्जित कर ली है। यह सत्य इस बात का द्योतक है कि श्री माथुर के एकांकी कलात्मक तथा मर्मस्पर्शी हैं। इनके नाटकों में घटनाओं की जो संसृति की गई है वह जीवन के सत्यों को उभारने में विशेष सफल हुई है। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इन्हें ऐतिहासिक तथा सामाजिक कथानकों की रचना में समान रूप से सफलता प्राप्त हुई है। इनके एकांकी नाटकों में जीवन के वस्तुवाद की तीव्र आलोचना उपलब्ध होती है।

श्री माथुर के एकांकी नाटकों में चित्रित वातावरण अत्यन्त गंभीर होता है। वे नाटक के पात्रों को अत्यन्त संयत ढंग से घटनाओं की भूमिका में समाविष्ट करते हैं। इसका प्रतिफल यह होता है कि इनके द्वारा सर्जित पात्रों के कथोपकथन बड़े मर्यादित तथा संक्षिप्त होते हैं। सुखांत नाटकों की अपेक्षा श्री माथुर की कला दुःखांत नाटकों में अधिक प्रस्फुटित होती है। इनके एकांकी अभिनय के योग्य तथा परिष्कृत अभिरुचि प्रधान साहित्यिक व्यक्तियों के योग्य होते हैं। इनके नाटक रंगमंच का ध्यान रख कर सर्जित हुए हैं। श्री माथुर के संवाद बड़े प्रभावशाली तथा तर्क सम्पन्न होते हैं। उनसे लेखक की मनोवैज्ञानिकता प्रतिविम्बित होती है। उदाहरणार्थ “भोर का तारा” में छाया का कथन पढ़िये—“कविता तुम्हारे सूनो दिलों में संगीत भरती है। स्त्री भी तुम्हारे ऊबे हुए मन को

बहलाती है। पुरुष जब जीवन की सूखी चट्टानों पर चढ़ता-चढ़ता थक जाता है, तब सोचता है “चलो, थोड़ा-मन बहलाव ही कर लें।” स्त्री पर अपना सारा प्यार, अपने सारे अरमान निछावर कर देता है, मानो दुनिया में और कुछ हो ही न। और उसके बाद जब चाँदनी बीत जाती है, जब कविता नीरव हो जाती है, तब पुरुष को चट्टानें फिर बुलाती हैं, वह ऐसे भागते हैं, मानो पिंजरे से छूटा हुआ पंछी।”

समय—सन् ४५५ ई० के आस-पास।

स्थान—गुप्त-साम्राज्य की राजधानी उज्जयिनी में एक साधारण कवि का गृह।

पात्र

शेखर—उज्जयिनी का कवि।

माधव—गुप्त-साम्राज्य में एक राज्य-कर्मचारी (शेखर का मित्र)।

छाया—शेखर की प्रेयसी, बाद में पत्नी।

भोर का तारा

(२)

(कवि शेखर का गृह । सब वस्तुएं अस्त-व्यस्त । बाईं ओर एक तख्त पर एक मैली फटी हुई चद्दर बिछी है । उस पर एक चौकी भी (रक्खी है और लेखनी इत्यादि भी । इधर-उधर भोजपत्र (या कागज) बिखरे हुए पड़े हैं । एक तिपाई भी है, जिस पर कुछ पात्र रक्खे हुए हैं । पीछे की ओर खिड़की है । बायाँ दरवाजा अन्दर जाने के लिए है, और दायाँ बाहर से आने के लिए । दीवारों में कई आले या ताख है, जिनमें दीपदान या कुछ और वस्तुएं रक्खी है । शेखर कुछ गुनगुनाते हुए टहलता है या कभी-कभी तख्त पर बैठ जाता है । जान पड़ता है, वह संलग्न है । तल्लीन मुद्रा । जो कुछ वह कहता है, उसे लिखता भी जाता है ।)

“अंगुलियाँ आतुर तुरत पसार”

खींचते नीले पट का छोर...(दुबारा कहता है, फिर लिखता है)
टंगा जिसमें जाने किस ओर...

स्वर्ण-करण.....स्वर्ण-करण.....(पूरा करने के प्रयास में तल्लीन है । इतने में बाहर से माधव का प्रवेश । सांसारिक अनुभव और जान-कारी उसके चेहरे से प्रकट है । द्वार के पास खड़ा होकर वह थोड़ी देर तक कवि की लीला देखता रहता है । उसके बाद)

माधव—शेखर !

शेखर—(अभी सुना ही नहीं । एक पंक्ति लिख कर) स्वर्ण-करण
प्रिय को रहा निहार !

मा०—शेखर !

शे०—(चौंकर) कौन ? ओह ! माधव ! (उठकर माधव की ओर बढ़ता है)

मा०—क्या कर रहे हो शेखर ?

शे०—यहाँ आओ माधव, यहाँ । (उसके कंधों को पकड़कर तख्त पर बिठाता हुआ) यहाँ बैठो । (स्वयं खड़ा है) माधव ! तुमने भोर का तारा देखा है कभी ?

मा०—(मुसकराते हुए) हाँ, क्यों ?

शे०—(बड़ी गम्भीरतापूर्वक) कैसा अकेला-सा, एकटक देखता रहता है ? जानते हो ?...नहीं जानते ! (तख्त के दूसरे भाग पर बैठता हुआ) बात यह है कि एक बार रजनी बाला अपने प्रियतम प्रभात से मिलने चली, गहरे नीले कपड़े पहनकर जिसमें सोने के तारे टंके थे । ज्यों ही निकट पहुँची, त्यों ही लाज की आँधी आई और बेचारी रजनी को उड़ा ले चली । (रुककर) फिर क्या हुआ ?

मा०—(कुछ उद्योग के बाद) प्रभात अकेला रह गया ?

शे०—नहीं, उसने अपनी अँगुलियाँ पसार कर उसके नीले पट का छोर खींच लिया । जानते हो, यह भोर का तारा है न ? उसी छोर में टंका हुआ सोने का कण एकटक प्रियतम प्रभात को निहार रहा है ।
.....क्यों ?

मा०—बहुत ऊँची कल्पना है । लिख चुके क्या ?

शे०—अभी तो और लिखूँगा । बैठा ही था कि इतने में तुम आ गये.....

मा०—(हंसते हुए) और तब तुम्हें ध्यान हुआ कि तुम धरती पर ही बैठे थे, आकाश में नहीं । (रुककर) मुझे कोस तो नहीं रहे हो शेखर ?

शे०—(भोलेपन से) क्यों ?

मा०—तुम्हारी परियों और तारों की दुनियाँ में मैं मनुष्यों की दुनियाँ लेकर आ गया ।

शे०—(सच्चेपन से) कभी-कभी तो मुझे तुममें भी कविता दीख पड़ती है ।

मा०—मुझमें.....(जोर से हंसकर) तुम अठखेलियाँ करना भी जानते हो ?.....(गम्भीर होते हुए) शेखर, कविता तो कोमल हृदयों की चीज है । मुझ जैसे कामकाजी राजनीतिज्ञों और सैनिकों के तो छूने भर से सुरक्षा जायगी । हम लोगों के लिए तो दुनियाँ की और ही उलझनें बहुत हैं ।

शे०—माधव, तुमने कभी यह भी सोचा है कि इन उलझनों से बाहर निकलने का मार्ग भी हो सकता है ?

मा०—और हम लोग करते ही क्या हैं ? रात-दिन मनुष्यों की उलझनें सुलझाने का ही तो उद्योग करते रहते हैं ।

शे०—यही तो नहीं करते । तुम राजनीतिज्ञ और मन्त्री लोग बड़ी संजीदगी के साथ अमीरी, गरीबी, युद्ध और सन्धि की समस्याओं को हल करने का अभिनय करते हो, परन्तु मनुष्य को इन उलझनों के बाहर कभी नहीं लाते । कवि इसका प्रयत्न करते हैं, पर तुम उन्हें पागल.....

मा०—कवि ?.....(अवहेलनापूर्वक) तुम उलझनों से बाहर निकलने का प्रयास नहीं करते, तुम उन्हें भूलने का प्रयास करते हो ? तुम

सपना देखते हो कि जीवन सौन्दर्य है। हम जानते रहते हैं और देखते हैं कि जीवन कर्त्तव्य है।

शे०—(भावुकता से) मुझे तो सौन्दर्य ही कर्त्तव्य जान पड़ता है। मुझे तो जहाँ सौन्दर्य दीख पड़ता है, वहाँ कविता भीख पड़ती है, वहीं जीवन दीख पड़ता है। (स्वर बदलकर) माधव तुमने सम्राट् के भवन के पास राजपथ के किनारे उस अन्धी भिलमंगिन को कभी देखा है ?

मा०—(मुसकराहट रोकते हुए) हाँ !

शे०—मैं उसे सदा भीख देता हूँ। जानते हो क्यों ?

मा०—क्यों ! (कुछ सोचने के बाद) दया सज्जन का भूषण है।

शे०—दया ? हूँ ! (ठहरकर) मैं तो उसे इसलिए भीख देता हूँ क्योंकि मुझे उसमें एक कविता, एक लय, एक कला भलक पड़ती है। उसका गहरा भुर्रियोंदार चेहरा, उसके कांपते हुए हाथ, उसकी आँखों के बेबस गड्ढे (एक तरफ एकटक देखते हुए, मानो इस मानसिक चित्र में खो गया हो), उसकी झुकी हुई कमर—माधव, मुझे तो ऐसा जान पड़ता है मानो किसी शिल्पी ने उसे इस ढाँचे में ढाला हो।

मा०—(इस भाषण से उसका अचछा-खासा मनोरंजन हो गया जान पड़ता है। खड़े होकर शेखर पर शरारत भरी आँखें गड़ाते हुए) शेखर, टाट में रेशम का पैबन्द क्यों लगाते हो ? ऐसी कविता तो तुम्हें किसी देवी की प्रशंसा में करनी चाहिए थी।

शे०—(सरल भाव से) किस देवी की ?

मा०—(अर्थपूर्ण स्वर में) यह तो उसके पुजारी से पूछो।

शे०—मैं तो नहीं जानता किसी पुजारी को।

मा०—अपने को आज तक किसी ने जाना है, शेखर !

(हंस पड़ता है । शेखर कुछ समझकर भेंपता-सा है) पागल !....
(गम्भीर होकर बैठते हुए) शेखर, सच बताओ, तुम छाया को प्यार करते हो ?

शे०—(मन्द, गहरे स्वर में) कितनी बार पूछोगे ?

मा०— बहुत प्यार करते हो ?

शे०— माधव ! जीवन में मेरी दो ही साधनाएँ हैं (तस्त से उठकर खिड़की की ओर बढ़ता हुआ) छाया का प्यार और कविता । (खिड़की के सहारे दर्शकों की ओर मुँह करके खड़ा हो जाता है)

मा०— और छाया ?

शे०— हम दोनों नदी के किनारे हैं, जो एक दूसरे की ओर मुड़ते हैं, पर मिल नहीं पाते ।

मा०— (उठकर शेखर के कन्धे पर हाथ रखते हुए) सुनो शेखर, नदी सूख भी तो सकती है ।

शे०— नहीं माधव, उसके भाई देवदत्त से किसी तरह की आशा करना व्यर्थ है । मेरे लिए तो उनका हृदय सूखा हुआ है ।

मा०— क्यों ?

शे०— तुम पूछते हो क्यों ? तुम भी तो सम्राट् स्कन्दगुप्त के बरबारी हो । देवदत्त एक मन्त्री हैं । भला, एक मन्त्री की बहन का एक मामूली कवि से क्या सम्बन्ध ?

मा०— मामूली कवि ! शेखर तुम अपने को मामूली कवि समझते हो ?

शे०— और क्या समझूँ ? राजकवि ?

मा०— सुनो शेखर, तुम्हें एक खबर सुनाता हूँ ।

शे०— खबर ?

मा०—हाँ, मैं कल रात को राजभवन गया था ।

शे०—इसमें तो कोई नई बात नहीं । तुम्हारा तो काम ही यह है ।

मा०—नहीं, कल एक उत्सव था । स्वयं सम्राट् ने कुछ लोगों को बुलाया था । गाने हुए, नाच हुए, दावत हुई । एक युवती ने बहुत सुन्दर गीत सुनाया । सम्राट् तो उस गीत पर रोझ गये ।

शे०—(उकताकर) आखिर तुम यह सब सुझे क्यों सुना रहे हो, माधव ?

मा० — इसलिए कि सम्राट् ने उस गीत बनाने वाले का नाम पूछा । पता चला कि उसका नाम था शेखर ?

शे०—(चौंककर) क्या ?

मा०—अभी और तो सुनो । उस युवती ने सम्राट् से कहा कि अगर आपको यह गाना पसन्द है, तो इसके लिखने वाले कवि को अपने दरबार में बुलाइये । अब कल से वह कवि महाराजाधिराज सम्राट् स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में जायेगा ।

शे०—मैं ?

मा०—(अभिनय-सा करते हुए, झुककर) श्रीमान्, क्या आप ही का नाम शेखर है ?

शे०—मैं जाऊँगा सम्राट् के दरबार में ? माधव, सपना तो नहीं देख रहे हो ?

मा०—सपने तो तुम देखा करते हो ? लेकिन अभी मेरा समाचार पूरा कहाँ हुआ है ?

शे०—हाँ वह युवती कौन है ?

मा०—अब यह भी बताना होगा ? तुम भी बुद्ध हो ! क्या इसी बूते पर प्रेम करने चले थे ?

शे०—ओह ! छाया...(माधव का हाथ पकड़ते हुए)...तुम कितने अच्छे हो !

मा०—और सुनो...सम्राट् ने देवदत्त को आज्ञा दी है कि वह तक्षशिला जाकर वहाँ के क्षत्रप वीरभद्र को दबाएँ । आज देवदत्त के साथ मैं भी जाऊँगा, उनका मन्त्री बनकर । समझे ?

शे०—(स्वप्न-से में) तो क्या सच ही छाया ने कहा ? सच ही ?

मा०—शेखर, आठ दिन बाद आर्य देवदत्त और मैं तक्षशिला चल देंगे ।...उसके बाद उसके—बाद छाया कहाँ रहेगी ? भला बताओ तो ?

शे०—माधव ! ... (माधव हँस पड़ता है) इतना भाग्य ? इतना.. विश्वास नहीं होता ।

मा०—न करो विश्वास !...लेकिन भले मानस, छाया क्या इस कूड़े में रहेगी ? बिखरे हुए कागज, टूटी चटाई, फटे हुए वस्त्र । शेखर, लापरवाही की भी सीमा होती है ।

शे०—मैं कोई इन बातों की परवाह करता हूँ ।

मा०—और फिर ?

शे०—मैं परवाह करता हूँ फूल की पंखुड़ियों पर जगमगाती हुई ओस की, (भावोद्रेक से) संध्या में सूर्य की किरणों को अपनी गोद में सिमेटने वाले बादल के टुकड़ों की, सुबह को आकाश के कोने में टिमटिमाने वाले तारे की ।

मा०—एक चीज रह गई ।

शे०—क्या ?

मा०—जिसे तुम वृक्षों के नीचे दिन में फैली देखते हो । (उठकर दूर खड़ा हो जाता है ।)

शे०—बूझों के नीचे ?

मा०—जिसे तुम दर्पण में झलकती देखते हो।

शे०—दर्पण में ?

मा०—जिसे तुम अपने हृदय में हमेशा देखते हो । (निकट आ गया है)

शे०—(समझकर, बच्चों की तरह) छाया !

मा०—(मुसकराते हुए) छाया !

(पर्दा गिरता है)

(२)

(उज्जयिनी में आर्य देवदत्त का भवन जिसमें अब शेखर और छाया रहते हैं । कमरा सजा हुआ और साफ है । दीवारों पर कुछ चित्र खिंचे हुए हैं । कोने में धूपदान भी है । सामने तख्त पर चटाई और लिखने पढ़ने का सामान है । बराबर में एक छोटी चौकी पर कुछ ग्रन्थ रखे हुए हैं । दूसरी ओर एक पीढ़ा है, जिसके निकट मिट्टी की, किन्तु कलापूर्ण, एक अंगोठी रखी हुई है । दीवार के एक भाग पर एक अलंगनी है, जिस पर कुछ घोटियाँ इत्यादि टंगी हैं ।

छाया सौन्दर्य की प्रतिमा, चांचल्य, उन्माद और गाम्भीर्य का जिसमें स्त्री-सुलभ सम्मिश्रण है, गृहस्वामिनी होने के नाते कमरे की सब वस्तुएँ ठीक-ठीक स्थान पर सम्हालकर रख रही है । साथ ही कुछ गुन-गुनाती भी जाती है । जाड़ा होने के कारण तापने के लिए उसने अंगोठी में अग्नि प्रज्वलित कर दी है । कुछ देर बाद पीढ़े पर बैठकर वह अंगोठी को ठीक करती है । उसकी पीठ द्वार की ओर है । अपने कार्य और गान में इतनी संलग्न है कि बहार पैरों की आवाज नहीं सुनाई देती ।)

गीत

प्यार की है क्या यह पहचान ?

चाँदनी का पाकर नव स्पर्श, चमक उठते पत्ते नावान;
पवन को परस सलिल की लहर, नृत्य में हो जाती लयमान;
सूर्य का सुन कोमल पदचाप, फूट उठता चिड़ियों का गान;

तुम्हारी तो प्रिय केवल याद, जगाती मेरे सोये प्राण ।

प्यार की है क्या यह पहचान ?

(धीरे से शेखर का प्रवेश । कन्धे और कमर पर ऊनी दुशाला है, बगल में ग्रन्थ । गले में फूलों की माला है । द्वार पर चुपचाप खड़ा होकर मुसकराते हुए छाया का गीत सुनता है ।)

शे०—(थोड़ी देर बाद, धीरे से) छाया ! (छाया नहीं सुन पाती है । गाना जारी है । फिर कुछ समय बाद) छाया !!

छा०—(चौंकर खड़ी हो जाती है । मुख फेरकर) ओह !

शे०—(तख्त की ओर बढ़ता हुआ) छाया, तुम्हें एक कहानी मालूम है ?

छा०—(उत्सुकतापूर्वक) कौन-सी ?

शे०—(छोटी चौकी पर पहले तो अपनी बगल का ग्रन्थ रखता है, और फिर उस पर दुशाला रखते हुए) एक बहुत सुन्दर-सी ।

छा०—सुनें, कैसी कहानी है ?

शे०—(बैठकर) एक राजा के यहाँ एक कवि रहता था, युवक और भावुक । राजभवन में सब लोग उसे प्यार करते थे । राजा तो उस पर निछावर था । रोज सुबह राजा उसके मुँह से नई कविता सुनता था, नई और सुन्दर कविता ।

छा०—हूँ । (पीढ़े पर बैठ जाती है, चिबुक को हथेली पर टेकती है)

शे०—परन्तु उसमें एक बुराई थी ।

छा०—क्या ?

शे०—वह अपनी कविता केवल सुबह के समय सुनाता था । यदि राजा उससे पूछता कि तुम दोपहर या संध्या को अपनी कविता क्यों नहीं सुनाते, तो वह उत्तर देता—“मैं केवल रात के तीसरे पहर में कविता लिख सकता हूँ ।”

छा०—राजा उससे रुष्ट नहीं हुआ ?

शे०—नहीं । उसने सोचा कि कवि के घर चलकर देखा जाय कि इसमें रहस्य क्या है ? रात का तीसरा पहर होते ही राजा वेश बदल कर कवि के घर के पास खिड़की के नीचे बैठ गया ।

छा०—उसके बाद ?

शे०—उसके बाद राजा ने देखा कि कवि लेखनी लेकर तैयार बैठ गया । थोड़ी देर में कहीं से बहुत मधुर, सुरीला स्वर राजा के कान में पड़ा । राजा झूमने लगा और कवि की लेखनी आपसे आप चलने लगी ।

छा०—फिर ?

शे०—फिर क्या ? राजा महल को लौट आया और उसके बाद उसने कवि से कभी यह प्रश्न नहीं पूछा कि वह सुबह ही क्यों कविता सुनाता था । भला, बताओ तो क्यों नहीं पूछा ?

छा०—बताऊँ ?

शे०—हाँ !

छा०—राजा को यह मालूम हो गया कि उस गायिका के स्वर में ही कवि की कविता थी । और बताऊँ ! (खड़ी हो जाती है)

शे०—(मुसकराते हुए) छाया, तुम—

छा०—(टोककर, शीघ्रता और चंचलता के साथ) वह गायिका और कोई नहीं, उस कवि की पत्नी थी । और बताऊँ ? उस कवि को कहानी सुनाने का बहुत शौक था, झूठी कहानी । और बताऊँ ? उस कवि के बाल लम्बे थे, कपड़े ढीले-ढाले, गले में उसके फूलों की माला थी, माथे पर—(इस बीच में शेखर की मुसकराहट हल्की हँसी में परिणत हो गई है, यहाँ तक कि इन शब्दों तक पहुँचते-पहुँचते दोनों जोर से हँस पड़ते हैं ।)

शे०—(थोड़ी देर बाद गम्भीर होते हुए) लेकिन छाया, तुम्हीं बताओ—तुम्हारे गान, तुम्हारी प्रेरणा, तुम्हारे प्रेम के बिना मेरी कविता क्या होती ? तुम तो मेरी कविता हो ।

छा०—(बड़े गम्भीर, उलहना भरे स्वर में) प्रत्येक पुरुष के लिए स्त्री एक कविता है ।

शे०—क्या मतलब तुम्हारा ?

छा०—कविता तुम्हारे सूने दिलों में संगीत भरती है । स्त्री भी तुम्हारे ऊबे हुए मन को बहलाती है । पुरुष जब जीवन की सूखी चट्टानों पर चढ़ता-चढ़ता थक जाता है, तब सोचता है—‘चलो, थोड़ा मन बहलाव ही कर लें ।’ स्त्री पर अपना सारा प्यार, अपने सारे अरमान निछावर कर देता है, मानो दुनियाँ में और कुछ हो ही न । और उसके बाद जब चाँदनी बीत जाती है, जब कविता नीरव हो जाती है, तब पुरुष को चट्टानें फिर बुलाती हैं, और वह ऐसे भागता है मानो पिंजरे से छूटा हुआ पंछी । और स्त्री ? स्त्री के लिए वही ग्रंथेरा, फिर वही सूनापन ।

शे०—(मन्द स्वर में) छाया, तुम मेरे साथ अन्याय कर रही हो ।

छा०—क्या एक दिन तुम मुझे भी ऐसे छोड़कर न चले जाओगे ?

शे०—लेकिन छाया, मैं तुम्हें छोड़कर कहां जा सकता हूँ ?

छा०—उहँ, मैं नहीं मान सकती ।

शे०—सुनो तो; मेरे लिए तो जीवन में ऐसी सूखी चट्टाने थोड़े ही हैं । मेरी कविता ही मेरी हरी-भरी वाटिका है । मैं उसे प्यार करता हूँ क्योंकि मुझे उसमें सौंदर्य दीखता है । मैं तुम्हें प्यार करता हूँ क्यों कि मुझे तुम्हारे हृदय में सौंदर्य दीखता है । जिस दिन मैं तुमसे दूर हो जाऊँगा, उस दिन मैं सौंदर्य से दूर हो जाऊँगा; अपनी कविता से दूर हो जाऊँगा । (कुछ रुककर) मेरी कविता मर जायेगी ।

छा०—नहीं शेखर, मैं मर जाऊँगी, किन्तु तुम्हारी कविता रहेगी, बहुत दिन रहेगी ।

शे०—मेरी कविता ! (कुछ देर बाद) छाया, आज मैं तुम्हें एक बड़ी विशेष बात बताने वाला हूँ, एक ऐसा भेद जो अब तक मैंने तुमसे भी छिपा रक्खा था ।

छा०—रहने दो, तुम ऐसे भेद और ऐसी कहानियाँ सुनाया ही करते हो ।

शे०—नहीं ।.....अच्छा तनिक उस दुशाले को उठाओ । (छाया उठाती है) उसके नीचे कुछ है । (छाया उस ग्रन्थ को हाथ में लेती है) उसे खोलो ।.....क्या है ?

छा०—(आश्चर्यान्वित होकर) ओह ! ज्यों-ज्यों छाया उसके पन्ने उलटती जाती है, शेखर की प्रसन्नता बढ़ती जाती है) 'भोर का तारा' उफूफोह ! यह तुमने कब लिखा ? मुझसे छिपकर ?

शे०—(हँसते हुए । विजय का-सा भाव) छाया, तुम्हें याद है उस

दिन की, जब माधव के साथ मैं तुम्हारे भाई देवदत्त से मिलने इसी भवन में आया था ?

छा०—(शेखर की ओर थोड़ी देर देखकर) उस दिन को कैसे भूल सकती हूँ, शेखर ! उसी दिन तो भैया को तक्षशिला जाने की आज्ञा मिली थी, उसी दिन तो हम और तुम.....(रुक जाती है)

शे०—हाँ छाया, उसी दिन मैंने इस महाकाव्य को लिखना आरम्भ किया था । (गहरे स्वर में) आज वह समाप्त हो गया ।

छा०—शेखर, यह हमारे प्रेम की अमर स्मृति है ।

शे०—उसे यहाँ लाओ । (हाथ में लेकर, चाव से खोलता हुआ) 'भोर का तारा' । छाया यह काव्य बड़ी लगन का फल है । कल मैं इसे सम्राट् की सेवा में ले जाऊँगा । और फिर जब मैं उस सभा में इसे सुनाना आरम्भ करूँगा, उस समय सम्राट् गद् गद् हो जायेंगे, और मैं कवियों का सिरमौर हो जाऊँगा । छाया, बरसों बाद दुनियाँ पढ़ेगी, कविकुलशिरोमणि शेखर कृत 'भोर का तारा' -- हा हा हा ! (विभोर)

(छाया उसकी ओर एकटक देख रही है । सहसा उसके चेहरे

पर चिंता की रेखा खिच जाती है । शेखर हँस रहा है)

छा०—शेखर ! (वह हँसे जा रहा है) शेखर ! (हँसे जा रहा है) शेखर ! (शेखर की दृष्टि उस पर पड़ती है)

शे०—(सहसा चुप होकर) क्यों छाया, क्या हुआ तुमको ?

छा०—(चिन्तित स्वर में) शेखर ! (चुप हो जाती है)

शे०—कहो ।

छा०—शेखर ! तुम इसे सम्हालकर रखोगे न ?

शे०—बस. इतनी ब्री सी बात ?

छा०—शेखर, मुझे डर लगता है कि... कि—कहीं यह नष्ट न हो जाय, कोई इसे चुरा न ले जाय, और फिर तुम...

शे०—हा हा हा ! पगली, ऐसा क्यों होने लगा ? सोचने से ही डर गई ! छाया, छाया, तुम्हारे लिए तो आज प्रसन्न होने का दिन है, बहुत प्रसन्न !—इधर देखो छाया, हम लोग कितने सुखी हैं ? और तुम ? जानती हो, तुम कौन हो ? तुम हो तक्षशिला के क्षत्रप देवदत्त की बहन और उज्जयिनी के सब से बड़े कवि शेखर की पत्नी ।...तक्षशिला का क्षत्रप और उज्जयिनी का कवि । हँ हँ हँ !—क्यों छाया ?

छा०—(मन्द स्वर में) तुम सच कहते हो, शेखर ! हम लोग बहुत सुखी हैं ।

शे०—(मग्नावस्था में) बहुत सुखी !

(सहसा बाहर कोलाहल । घोड़े के टापों की आवाज । शेखर

और छाया छिटककर चैतन्य खड़े हो जाते हैं । शेखर

द्वार की ओर बढ़ता है)

शे०—कौन है ?

(सहसा माधव का प्रवेश । थकित और श्रमिंत; शस्त्रों से सुसज्जित । पसीने से नहा रहा है । चेहरे पर भय और चिंता के चिह्न हैं)

शेखर और छाया—माधव !

शे०—माधव, तुम यहाँ कहाँ ?

मा०—(दोनों पर दृष्टि फेंकता हुआ) शेखर, छाया, (फिर उस कमरे पर डरती-सी आँखें डालता है, मानो उस सुरम्य घोंसले को नष्ट करने से भय खाता हो । कुछ देर बाद बड़े प्रयत्न और कष्ट के साथ बोलता है) मैं तम दोनों से भीख माँगने आया हूँ ।

(छाया और शेखर के आश्चर्य का ठिकाना नहीं है)

छा०—भीख माँगने ?...तक्षशिला से ?

शे०—तक्षशिला से ? माधव, क्या बात है ?

मा०—(धीरे-धीरे मजबूती के साथ बोलना आरम्भ करता है, परन्तु ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों स्वर में भावुकता आती जाती है)
हाँ, मैं तक्षशिला से ही आ रहा हूँ । यहाँ तक कैसे आ पाया यह मैं नहीं जानता । यात्रा के ये दिन कैसे बीते, यह भी नहीं जानता । हाँ, यह जानता हूँ कि आज गुप्त-साम्राज्य संकट में है और हमें घर-घर भीख माँगनी पड़ेगी !

शे०—गुप्त-साम्राज्य संकट में है ! क्या कह रहे हो माधव !

मा०—(संजीदगी के साथ) शेखर, पश्चिमोत्तर सीमा पर आग लग चुकी है । हूणों का सरदार तोरमाण भारतवर्ष पर चढ़ आया है ।

छा० -- (भयाक्रान्त होकर) तोरमाण ?

मा०—उसने सिन्धु नदी को पार कर लिया है, उसने अम्भी राज्य को नष्ट कर दिया है; उसकी सेना तक्षशिला को पैरों तले रौंद रही है ।

छा०—(सहसा माधव के निकट जाकर, भय से कातर हो उनकी भुजा पकड़ती हुई) तक्षशिला ?

मा०—(उसी स्वर में) सारा पंचनद आज उसके भय से काँप रहा है । एक के बाद एक गाँव जल रहे हैं । हत्याएँ हो रही हैं । अत्याचार हो रहा है । शीघ्र ही सारा आर्यावर्त पीड़ितों के हाहाकार से गूँजने लगेगा । शेखर, छाया, मैं तुमसे माँगता हूँ, नई भीख माँगता हूँ—सम्राट् स्कन्दगुप्त की, साम्राज्य की, देश की इस संकट में मदद करो । (बाहर भारी कोलाहल । शेखर और छाया जड़वत् खड़े हैं ।) देखो, बाहर जनता उमड़ रही है । शेखर, तुम्हारी वाणी में ओज है, तुम्हारे स्वर में प्रभाव ।

तुम अपने शब्दों के बल पर सोई आरमाश्रों को जगा सकते हो, युवकों में जान फूँक सकते हो। शेखर सुने जा रहा है। चेहरे पर भावों का आवेग। मस्तक पर हाथ रखता है।) आज साम्राज्य को सैनिकों की आवश्यकता है। शेखर, अपनी ओजमयी कविता के द्वारा तुम गाँव-गाँव में जाकर वह आग फैला दो; जिससे हजारों और लाखों भुजाएं अपने सम्राट् और अपने देश की रक्षा के लिए शस्त्र हाथ में ले लें। (कुछ रुककर शेखर के चेहरे की ओर देखता है। उसकी मुद्रा बदल रही है— जैसे कोई भीषण उद्योग कर रहा हो) कवि, देश तुमसे यह बलिदान माँगता है।

छा०—(अत्यन्त दर्द-भरे करुण स्वर में) माधव ! माधव !

मा०—(मुड़कर छाया की ओर कुछ देर देखता है। फिर थोड़ी देर बाद) छाया, उन्होंने कहा था—‘मेरे प्राण क्या चीज हैं, इसमें तो सहस्त्रों मिट गये और सहस्त्रों को मिटना है।’

शे०—(मानो नींद में जगा हो) किसने ?

मा०—आर्य देवदत्त ने, अन्तिम समय !

छा०—(जैसे बिजली गिरी हो) माधव, माधव, तो क्या भैया...

मा०—उन्होंने वीरगति पायी है, छाया ! (छाया पृथ्वी पर घुटनों पर गिर जाती है। चेहरे को हाथों से ढक लिया है। इस बीच में माधव कहे जाता है, शेखर एक-दो बार घूमता है। उसके मुख से प्रकट होता है मानो डूबते को सहारा मिलने वाला है) तक्षशिला से चालीस मील दूर विद्रोही वीरभद्र की खोज में वह हूणों के दल के निकट जा पहुँचे। वहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि वीरभद्र हूणों से मिल गया है। उसके बीस सैनिक आगे हूणों में फँसे हुए थे। वे तक्षशिला लौट सकते थे और अपने प्राण बचा सकते थे। परन्तु एक सच्चे सेनापति की भाँति उन्होंने अपने सैनिकों के लिए

अपने प्राण संकट में डाल दिये और सुभे तक्षशिला और पाटलिपुत्र को चेतवनी देने के लिए भेजा । मैं आज.....

(सहसा रुक जाता है, क्योंकि उसकी दृष्टि शेखर पर जा पड़ती है । शेखर चौकी के पास खड़ा है । उसके चेहरे पर हड़ता और विजय का भाव है । बाहर कोलाहल कम है । शेखर अपना हाथ बढ़ाकर अपने ग्रन्थ 'भोर का तारा' को उठाता है । इसी समय माधव की दृष्टि उस पर पड़ती है । शेखर पुस्तक को कुछ देर चाव से, बिछुड़न से, प्रेम से देखता है । उसके बाद आगे बढ़कर अंगीठी के निकट जाकर उसमें जलती हुई अग्नि को देखता है और धीरे-धीरे उस पुस्तक को फाड़ता है । इस आवाज को सुनकर छाया अपना मुख ऊपर को करती है)

छा०—(उसे फाड़ते हुए देखकर) शेखर !

(लेकिन शेखर ने उसे अग्नि में डाल दिया है । लपटें उठती हैं । छाया फिर गिर पड़ती है । शेखर लपटों की तरफ देखता है । फिर छाया की ओर दृष्टिपात करता है, एक सूखी हंसी के बाद बाहर चल देता है । कोलाहल कम होने के कारण उसके पैरों की आवाज थोड़ी देर तक सुनाई देती है । माधव द्वार की ओर बढ़ता है ।)

छा०—(अत्यन्त पीड़ित स्वर में) माधव, तुमने तो मेरा प्रभात नष्ट कर दिया । (माधव उसके ये शब्द सुनकर, बाहर जाता-जाता रुक जाता है । मुड़कर छाया की ओर देखता है और फिर पोछे की खिड़की के निकट जाकर उसे खोल देता है । इससे बाहर का कोलाहल स्पष्ट सुनाई देता है । शेखर और उसके साथ पूरे जन-समूह के गाने का स्वर सुन पड़ता है —

नकार पे उंका बजा है, तू शस्त्रों को अपने संभाल ।

बुलाती है बीरों को तुरही, तू उठ कोई रस्ता निकाल ॥

(शेखर का स्वर तीव्र है । माधव खिड़की को बन्द कर देता है ।
पुनः शान्ति । इसके बाद मंद परन्तु दृढ़ स्वर में बोलता है)

मा०—छाया, मैंने तुम्हारा प्रभात नष्ट नहीं किया । प्रभात तो
अब होगा । शेखर तो अब तक भोर का तारा था; अब वह प्रभात का
सूर्य होगा ।

(छाया धीरे-धीरे अपना मस्तक उठाती है)

(पर्दा गिरता है)

अशोक

(श्री विष्णु प्रभाकर)

श्री विष्णु प्रभाकर रेडियो एकांकीकार के रूप में अधिक प्रख्यात हैं । ये रेडियो शिल्प से प्रभावित होकर एकांकी के क्षेत्र में पदापण करने वाले कलाकार हैं । श्री विष्णु प्रभाकर राष्ट्रीय विचार-प्रधान साहित्यिक प्राणी हैं । पात्रों के मानसिक द्वन्द्व को व्यक्त करने में इन्हें कुशलता प्राप्त है । ये मानव जीवन की कुछ ऐसी घटनाओं का संचयन करते हैं जिनसे जीवन के उत्सर्गमय क्षण भाँक सकें । बलिदानमय क्षणों को पात्रों के चरित्र में समुपस्थित करके आदर्शवाद की स्थापना भी करते हैं । मनोविज्ञान के निरूपण करने में इन्हें बड़ी सफलता मिली है ।

श्री विष्णु प्रभाकर के सम्वाद कर्मभूमि में भाग ग्रहण करने वाले पात्रों की मानोवृत्ति के अनुरूप उत्साह तथा उमंग से परिपूर्ण होते हैं ।

श्री विष्णु प्रभाकर के सम्वाद सरल, स्वाभाविक तथा सजीव होते हैं । प्रस्तुत एकांकी में उपगुप्त का निम्नलिखित सम्वाद कितना मनोवैज्ञानिक तथा सत्य है :—

“जब तक व्यक्ति अपने लिए जीता है, तब तक वह बन्दी ही रहता है । आकांक्षा की परिधि सीमित होती है परन्तु उसकी व्यास बढ़ी भयंकर होती है, सम्राट् ! मकड़ी के जाले के समान उसमें फँसकर कोई जीवित नहीं रहा है ।

श्री विष्णु प्रभाकर के पात्रों का व्यक्तित्व प्रभावशाली तथा आकर्षक होता है । उनके नाटक रंगमंच के लिये सर्वथा उपयुक्त होते हैं ।

पात्र

अशोक	:	भारत-सम्राट्
राधागुप्त	:	अशोक का महामात्य
महेन्द्र	:	अशोक का छोटा भाई
संघमित्रा	:	अशोक की छोटी बहन
कुमार	:	कलिंग का युवराज
उपगुप्त	:	बौद्ध भिक्षु

अशोक

[स्थान—कलिंग की युद्ध-भूमि में दूर-दूर तक फैले शिविर और उन पर छायी धूमिल सन्ध्या । स्थान-स्थान पर सैनिक पहरा दे रहे हैं । स्टेज पर सम्राट् अशोक के शिविर का आन्तरिक दृश्य । इस समय सम्राट् अशोक प्रकोष्ठ में इधर-उधर घूम रहे हैं । पृष्ठ-भूमि में सान्ध्य-गीत की ध्वनि उठती है । सम्राट् की मुख-छाँवि अत्यन्त गम्भीर है । गति में व्यग्रता है । वह अकेले है और रह-रह कर शिविर-द्वार की ओर देख लेते हैं; तभी शीघ्रता से महामात्य राधागुप्त वहाँ प्रवेश करता है ।]

राधागुप्त—सम्राट् की जय हो । राजकुमार बन्दी हो चुके हैं ।

अशोक—(चौंक कर) कलिंग के राजकुमार बन्दी हो चुके हैं ? सच कहते हो महामात्य !

राधागुप्त—आज्ञा हो तो राजकुमार को सम्राट् के बरतों में उपस्थित किया जाय ।

अशोक—(अनमना-सा) अभी ठहरो । पहले मुझे यह बताओ कि क्या अब युद्ध की आवश्यकता नहीं रही ?

राधागुप्त—हाँ देव, कलिंग-विजय पूर्ण हुई ।

अशोक—(उसी तरह) कलिंग-विजय पूर्ण हुई । अब शस्त्रों की भंकार सुनने को नहीं मिलेगी । अब ग्राहतों की वीरकार बन्द हो जायगी ।

राधागुप्त—देव ! अब कलिंग में कौन बचा है जो शस्त्रों की भंकार सुनेगा । जो वृद्ध, वनितारें या बालक वहाँ शोध ह, वे न सुन सकते हैं, न बोल सकते हैं । वे केवल अपलक दृष्टि से शून्य में ताकते रहते हैं । उनसे बातें करो तो कुछ इस प्रकार देखते हैं कि बोलने वाला पानी-पानी

हो जाता है। हाँ, वहाँ केवल एक व्यक्ति है जो देखता भी है और बोलता भी है।

अशोक—वह क्या बोलता है ?

राधागुप्त—यह तो मैं नहीं बता सकूँगा, देव !

अशोक—(सहसा तेज होकर) महामात्य, जानते हो तुम किससे बातें कर रहे हो ।

राधागुप्त—जानता हूँ, भारत-सम्राट् ।

अशोक—तब ।

राधागुप्त—सम्राट् चाहें तो वह बात स्वयं उसी के मुँह से सुन सकते हैं ।

अशोक—तो तुम उस वाचाल को पकड़ लाये हो ?

राधागुप्त—मैंने अभी निवेदन किया था, देव ! कलिंग-कुमार बन्दी हो चुके हैं ।

अशोक—कलिंग-कुमार ! बन्दी होकर भी बोलना जानता है ।

राधागुप्त—तब से तो वह कुछ अधिक बोलने लगे हैं, सम्राट् !

अशोक—(आठ चक्कर) वह शायद भारत-सम्राट् चण्डाशोक के स्वभाव को नहीं जानता ।

राधागुप्त—देव ! कुमार मगध में हमारे अतिथि रहे हैं । आखेट के समय उनके हस्त-लाघव की सम्राट् ने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी और देवी संघमित्रा.. ...

अशोक—(जोर मे) महामात्य !

राधागुप्त—अपराध क्षमा हो देव ! देवी संधमित्रा आज भी कुमार की प्रशंसक हैं। वह कहती थीं कि कुमार के साथ वही व्यवहार होना चाहिये जो एक वीर पुरुष के साथ होता है।

अशोक—महामात्य ! हमें देवी संधमित्रा के परामर्श की आवश्यकता नहीं है। हम जानते हैं कि हमें कब क्या करना होगा। तुम बन्दी को उपस्थित करो। हम उमकी बातें सुनेंगे।

राधागुप्त—जो आज्ञा देव !

(राधागुप्त का गमन, संधमित्रा का प्रवेश)

संधमित्रा—भइया !

अशोक -- कौन संधमित्रा ! तुम इस समय यहाँ क्यों आयी ?

संधमित्रा—सम्राट् से निवेदन करने की गायिका आ गयी है। आज्ञा हो तो उपस्थित करूँ।

अशोक—इस समय नहीं, संधमित्रा ! मुझे कुछ आवश्यक काम है।

संधमित्रा—क्या मैं जान सकती हूँ कि सम्राट् को इस सन्ध्याकाल में क्या काम है।

अशोक -- तुम काम जानना चाहती हो ? तुम काम जानना चाहती हो ! (एकदम) नहीं संधमित्रा, मैं तुम्हें कुछ नहीं बता सकूँगा।

संधमित्रा --(हँसकर) बताने की कोई आवश्यकता नहीं, सम्राट् ! मैं जानती हूँ कि आप कलिंग-कुमार के भाग्य का निर्णय करने जा रहे हैं। मैं आपसे केवल इतना निवेदन करूँगी कि आज आपके शौर्य की परीक्षा है।

अशोक—भारत-सम्राट् चण्डाशोक का शौर्य विश्व-विदित है। कुमार को मेरे चरणों में सिर झुकाना ही होगा।

संघमित्रा—और न झुकाया तो !

अशोक—तो यह तलवार उसे झुका लेगी ।

(तलवार को म्यान में बजाता है)

संघमित्रा (काँपकर) भइया !

अशोक—(हँस कर) काँप गयी ! क्या तुम्हें शस्त्रों से डर लगने लगा है !

संघमित्रा - नहीं, मैं शस्त्रों से नहीं डरती सम्राट् !

अशोक—तो कुमार की मृत्यु से डरती हो ?

संघमित्रा— नहीं सम्राट्, मुझे उनकी चिन्ता नहीं है ।

अशोक—तो फिर किस बात की चिन्ता है !

संघमित्रा - मुझे सम्राट् की चिन्ता है । गलती से वह शौर्य को तलवार में समझ बैठे हैं ।

अशोक—तो और वह कहाँ होता है !

संघमित्रा - हृदय में, सम्राट् ! (हृदय की विशालता और उदारता का नाम शौर्य है ।)

अशोक—(अनमना-सा) हृदय की विशालता और उदारता.....
(सहसा अट्टहास) हृदय की विशालता और उदारता ! जान पड़ता है कि कलिंग के उस भिक्षु का प्रभाव तुम पर भी पड़ा है. संघमित्रा !
आखिर तुम नारी हो और नारी की अवरोध-शक्ति बड़ी दुर्बल होती है ।
लेकिन याद रखो, अशोक बौद्धों की इस दुर्बल नीति के बल पर भारत का सम्राट् नहीं बना है ।

संघमित्रा—लेकिन सम्राट्...(किसी के आने का स्वर)

अशोक—(शीघ्रता से) तुम अब जा सकती हो, संघमित्रा !

संघमित्रा—भइया !

अशोक—जाओ संघमित्रा ! भारत-सम्राट् अशोक तुम्हें जाने की आज्ञा देता है ।

संघमित्रा—(जाती हुई) जा रही हूँ, सम्राट् ! पर भूलिये नहीं, हृदय की विशालता का ही नाम शौर्य है ।

[गमन । राधागुप्त का कलिंग-कुमार के साथ प्रवेश । कुमार को दो सैनिकों ने पकड़ा है । अन्दर आते ही वे कुछ हट कर खड़े हो जाते हैं ।]

राधागुप्त—सम्राट् की जय हो, कलिंग-कुमार उपस्थित है ।

अशोक—(कठोर स्वर में) महामात्य, कलिंग का अब कोई कुमार नहीं है । यह एक साधारण बन्दी है ?

कुमार—अशोक, अपनी वास्तविक अवस्था में सभी साधारण होते हैं । तुम भी अशोक पहले हो, सम्राट् पीछे ।

अशोक—(कड़ककर) बन्दी, जानते हो तुम किससे बातें कर रहे हो ?

कुमार—जानता क्यों नहीं । मैं मगध के हत्यारे सम्राट् चण्डाशोक से बातें कर रहा हूँ, उस चण्डाशोक से जिसने माँ वसुन्धरा को अपने लाखों पुत्रों का रक्त पीने को विवश किया है ।

अशोक—(क्रुद्ध) बन्दी तुम वाचाल ही नहीं, धृष्ट भी हो । इस धृष्टता का एक ही प्रतिकार मेरे पास है और वह है यह कटार ! (कटार दिखाता है)

कुमार—हत्यारे के पास कटार के अतिरिक्त भी और कुछ होता है क्या ?

अशोक—बन्दी ! मैं अभी तुम्हारा सिर काट सकता हूँ ।

कुमार—जो धरती माँ अपने लाखों पुत्रों का रक्त पी चुकी है, वह अपने एक और पुत्र का रक्त पियेगी तो कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, सम्राट् !

राधागुप्त—होश में आकर बातें करो कुमार !

कुमार—तुम्हें भी क्रोध आ गया महामात्य ! आखिर हो तो विष्णु गुप्त चरणव्य के शिष्य ही । लेकिन सुन लो राधागुप्त, तुम्हारे इस हत्यारे सम्राट् को एक दिन इस रक्त-प्लावन का बदला चुकाना होगा । उसका अपना हृदय उसकी भर्त्सना करेगा ।

अशोक—(अट्टहास) वही उपगुप्त का स्वर, वही-बौद्ध भिक्षु की वाणी । बौद्धों की दुर्बल नीति के कारण ही तुम्हारा पतन हुआ है, बन्दी ।

कुमार—मेरा पतन नहीं हुआ, अशोक ! पतन तुम्हारा हुआ है ।

अशोक—मेरा पतन ! भारत सम्राट् का पतन ! असम्भव बन्दी असम्भव !

कुमार—असम्भव नहीं अशोक ! वह पूर्ण सम्भव हो चुका है । लक्ष-लक्ष मानवों का रक्त तुम्हारे पतन की घोषणा कर रहा है । लक्ष-लक्ष घायलों की कराह में तुम्हारे पतन का स्वर गूँज रहा है । ललनाओं की सूनी माँगों में, माताओं की खाली गोदियों में, शिशुओं की निरीह दृष्टि में, सब कहीं तुम्हारे पतन की कहानी अंकित है । कलिङ्ग के उजड़े हुए ग्राम, वीरान प्रदेश, ये सब तुम्हारे पतन के साक्षी हैं । अशोक, तुम जीत कर भी हार गये हो, कलिङ्ग मिट कर भी अमर हो गया है ।

अशोक—अशोक हार गया है, कलिङ्ग अमर हो गया है !
(अट्टहास ।)

कुमार—हंस लो, जितना हंस सको हंस लो ! मगध में तुम्हें यह हंसी नहीं मिलेगी । वहाँ के मार्ग रक्त से रंगे पड़े हैं । वहाँ तुम्हारे सिंहासन के चारों ओर लाशों के ढेर लगे हुए हैं । वहाँ तुम्हारे बन्दी-घरों से लाखों बन्दियों की उठती हुई कराह ने सारे वातावरण को विषाक्त बना दिया है । अशोक, तुमने कलिङ्ग की धरती को जीता है उसकी आत्मा को नहीं । धरती की जीत को क्या तुम जीत कहते हो ?

राधागुप्त—जीत नहीं तो और क्या है ? आत्मा को किसने देखा है ? शरीर सत्य है, उसी की जय सच्ची जय है । कुमार, तुम्हारे इस शब्द-जाल से तुम्हारी पराजय जय में नहीं पलट सकती ।

कुमार—मेरी पराजय ! मुझे किसने पराजित किया है ?

अशोक—क्या ! क्या तुम अपनी पराजय नहीं स्वीकार करते ?

कुमार—कलिङ्ग के कुमार के शरीर में जब तक प्राण है, तब तक उसे कोई पराजित नहीं कर सकता ।

अशोक—(तेजी से) तुम मुझे प्रणाम नहीं करोगे ?

कुमार—कलिङ्ग का कुमार कलिङ्ग के अतिरिक्त और किसी सिंहासन के सामने झुकना नहीं जानता !

अशोक—लेकिन कलिङ्ग का सिंहासन धूल में मिल चुका है । कलिङ्ग का स्वामी मैं हूँ ।

कुमार—कलिङ्ग-कुमार के रहते कलिङ्ग का स्वामी कोई नहीं हो सकता, अशोक !

अशोक—होने का प्रश्न नहीं है । कलिङ्ग का राजमुकुट मेरी ठोकरों में लोट रहा है ।

कुमार—ठोकर लगाना तो बहुत दूर की बात है, उसकी ओर दृष्टि उठाने वाले को आँखें निकाल ली जाती हैं, सम्राट् !

राधागुप्त—बस करो बन्दी नहीं तो

कुमार—नहीं तो तुम्हारा सिर काट लिया जायगा । (अट्टहास) तुम लोगों में सिर काट लेने से अधिक कुछ करने की शक्ति है ही कहाँ ? तुम कापुरुष हो !

अशोक—महामात्य, बन्दी से कहो कि वह व्यर्थ का वितण्डावाद न उठाकर मेरी अधीनता स्वीकार करे । अशोक वीर पुरुषों को क्षमा करना जानता है ।

कुमार—लेकिन वीर पुरुष किसी की क्षमा ग्रहण करना नहीं जानते । विश्वास रखो, कलिङ्ग-कुमार जीते जी वीरता को कलङ्कित नहीं करेगा ।

अशोक—महामात्य, बन्दी से पूछो कि क्या यह उसका अन्तिम निर्णय है ।

कुमार—वीर दो बार नहीं सोचा करते ।

अशोक—तब महामात्य बन्दी को ले जाओ और चंडगिरि से कह दो, उषा की प्रथम किरण के साथ इसका सिर मेरे चरणों में लोटेगा ।

राधागुप्त—सम्राट् की आज्ञा का पालन होगा, देव ।

कुमार—बस यही तुम्हारी वीरता है ! यही तुम्हारा शौर्य है ! इसी बूते पर सम्राट् बने हो ? एक बन्दी का सिर भी नहीं झुका सके । खोप-डियाँ ठुकराने के लिये तो गोदड़ भी श्मशान में घूमा करते हैं । लेकिन वह मनुष्यों का मार्ग नहीं है ।

राधागुप्त—बस कुमार, सम्राट् को उपदेश देने की धृष्टता मत करो । सैनिक, बन्दी को ले चलो ।

[सबका गमन । अशोक कुछ क्षण उन्हें जाते देखता है फिर अपने आप बोलने लगता है]

अशोक—कितना धृष्ट है ? मृत्यु जितनी समीप आती है, वाचालता उतनी ही बढ़ती है, साहस उतना ही सिर उठाता है । भय तो जैसे दूर भी नहीं गया है, (हँसकर) लेकिन अशोक को किसने जीता है, अशोक की शक्ति से कौन बचा है ? सारा भारत चण्डाशोक, क्रूरकर्मी बली पराक्रमी चण्डाशोक को जानता है । लेकिन वह कहता था—एकबन्दी का सिर नहीं झुका सके, खोपड़ियाँ टुकड़ाने के लिए तो गीदड़ भी श्मशान में घूमा करते हैं, नहीं . नहीं...यह सब उसका शब्द-जाल था, लेकिन लेकिन आहतों का चीत्कार...वन्धियों की कर्ण पुकार.. हृदय में कहीं पीड़ा होती है, नेत्र मुँद जाते हैं, ओह मुझे क्या हो रहा है, यह मुझे क्या ..(सबमित्रा का प्रवेश ।)

संघमित्रा—सम्राट् की जय हो ।

अशोक —(चौककर) कौन ! संघमित्रा ?

संघमित्रा—हाँ सम्राट् ! कुमार के भाग्य का निर्णय कर चुके ।

अशोक—(संभल कर) तुम उस बन्ती की बात कर रही हो ! अच्छा हुआ कि तुम्हारा विवाह उसके साथ नहीं हुआ । वह तो बड़ा धृष्ट निकला, संघमित्रा ! उसने मेरी अधीनता स्वीकार नहीं की ।

संघमित्रा—अधीनता को उसके पास रक्खा ही क्या है, मारा देश श्मशान बन चुका है !

अशोक —तुम उसका देश देखने गयी थीं, संघमित्रा !

संघमित्रा—जाना ही पड़ता है । आपके शूरवीर सैनिक घरों से निकाल-निकाल कर कलिङ्ग-निवासियों का वध करते थे !

अशोक—उन्हें यही आज्ञा थी ।

संघमित्रा—समाट् के सैनिक आज्ञाकारी हैं, यहाँ तक कि छोटे-छोटे बच्चों और औरतों को भी वे घर में नहीं छोड़ते थे । उन्हें बाहर निकाल कर घरों में आग लगा देते थे । इसलिये कलिङ्ग के कुमार ने गलती की जो श्मशान के लिए सिर दिया ।

अशोक—तो तुम जानती हो कि मैंने बन्दी का सिर काट लेने की आज्ञा दी है ।

संघमित्रा —जानती तो नहीं थी पर कल्पना कर सकती थी । बचपन से आप को पहचानती हूँ । राजगद्दी भी तो आपने बड़े भैया के सिर का सौदा करके जीती है । औरों की भाँति विरासत में नहीं पायी । विरासत एक प्रकार का दान है और दान लेना वीरता का अपमान है ।

अशोक—(सहसा धीमा स्वर) गद्दी की तो यहाँ कोई चर्चा नहीं थी, संघमित्रा !

संघमित्रा—गद्दी तो गौण है, भैया ! चर्चा आपके स्वभाव की है । कुमार को प्राणदण्ड देकर आपने राजसत्ता की ही नहीं, अपने स्वभाव और मर्यादा की भी रक्षा की है ।

अशोक—(तेज स्वर) स्वभाव की मर्यादा, संघमित्रा ! अशोक शक्ति में विश्वास रखता है । दया और करुणा को वह साम्राज्य का शत्रु मानता है । सुसीम पिता के राज्य-काल में भी तक्षशिला का विद्रोह नहीं शान्त कर सका था । वह बौद्धों की दुर्बल नीति का पक्षपाती था । वह मानवता की पुकार—जैसी काल्पनिक भावनाओं में विश्वास करता था ।

संघमित्रा—निःसन्देह बड़े भैया सच्चाट होने के लिए नहीं थे । गद्दी पर बैठते तो कैसे मौर्यों की पताका चारों दिशाओं में फहराती, कैसे देश

‘विजित’ होते, कैसे धरती माता अपनी सन्तान का रक्त पीतीं, कैसे आकाश मानव-चीत्कार का संगीत सुनता ?

अशोक—तुम जानती हो कि चीत्कार में भी संगीत होता है ।

संघमित्रा—होता है सम्राट्, उसी को सुनकर तो मनुष्य जीवन से डरना सीखता है ।

अशोक—(हंसकर) तुम कैसे बातें कर रही हो, संघमित्रा । जो जीवन से डरेगा वह जियेगा कैसे ?

संघमित्रा—जैसे सम्राट् जीते हैं, जैसे सम्राट् के सैनिक जीते हैं ।

अशोक—(धीरे से) जैसे सम्राट् जीते हैं यानी जैसे मैं जीता हूँ ?

संघमित्रा—हां सम्राट् ।

अशोक—संघमित्रा ! तुम भी उन बौद्धों से हेल-मेल बढ़ाने लगी हो, तभी यह रहस्यमयी भाषा बोलती हो । बन्दी भी कुछ इसी प्रकार कहता था ।

संघमित्रा—बन्दी क्या कहता था सम्राट् ?

अशोक - वह कहता था कि तुम कैसे वीर हो, जो एक बन्दी का भी सिर नहीं झुका सके । खोपड़ियाँ ठुकराने के लिए तो गीदड़ भी इमशान में घूमा करते हैं (खोखली हंसी) । यह सब वाग्जाल है । भुजबल ही सबसे बड़ा शौर्य है । हृदय और आत्मा की बातें नारी और भिक्षुओं के लिए है ।

संघमित्रा—(हंस कर) धन्यवाद भैया, नारी को आपने भिक्षुओं के समकक्ष माना, लेकिन एक बात पूछूं सम्राट् ?

अशोक—पूछो संघमित्रा ! बात पूछने का तो आज मेरा भी मन

संघमित्रा—सच, तो आप ही पूछिये ? मैं तो सदा ही आप को तंग किया करती रहती हूँ । आप क्या पूछना चाहते हैं सम्राट् ?

अशोक—कुछ नहीं संघमित्रा !

संघमित्रा—(जोर देकर) पूछिये सम्राट् !

अशोक—पूछूँ ?

संघमित्रा—अगर मुझे किसी योग्य समझते हो तो पूछो ।

अशोक—नहीं-नहीं, यह बात नहीं है। मैं पूछना चाहता हूँ कि क्या किसी का वध करने की कोई और रीति भी होती है ।

संघमित्रा—समझी नहीं सम्राट् । और रीति से आप का क्या आशय है ?

अशोक—जिसका वध करना है उसके प्राण न निकलें पर वह मर जाय ।

संघमित्रा—ऐसी रीति ! नहीं भैया, मैं तो ऐसी रीति नहीं जानती । शस्त्र बाँधने वाला कोई जानता भी न होगा ।

अशोक—अच्छा तो जाने दो . लेकिन हाँ, संघमित्रा ! शस्त्र बाँधना बुरा होता है क्या ?

संघमित्रा—नहीं तो, आपको अचानक यह क्या होने लगा ? आप ऐसे प्रश्न क्यों पूछते हैं ?

अशोक—(काँप कर) न जाने...न जाने (दृढ़ होकर) नहीं-नहीं, मुझे कुछ नहीं हुआ । ऐसे ही कुछ याद आ गया था । तुम किसी से कुछ कहना मत । हाँ, हम शीघ्र सिंहल-विजय के लिये चलेंगे ।

संघमित्रा—सच ?

अशोक—हाँ ।

संघमित्रा—मैं भी चलूँगी ।

अशोक—अवश्य चलना । वह बहुत सुन्दर देश है ।

संघमित्रा—और हम सौन्दर्य के उपासक हैं, उसे चाट जाने वाले ।
(हँसकर) अच्छा मैं गायिका को बुला लाऊँ । आप थक गये होंगे !

अशोक नहीं-नहीं, संघमित्रा मैं गाना सुनना नहीं चाहता । मैं चाहता हूँ...मैं चाहता हूँ...

संघमित्रा— (सहमा रुककर) सम्राट् क्या चाहते हैं ?

अशोक—कुछ नहीं संघमित्रा ! मैं कुछ नहीं चाहता । लेकिन...
लेकिन मुझे कुछ याद आ रहा है । मुझे युद्ध-भूमि का दृश्य दिखायी दे रहा है । मुझे घायलों का चीत्कार सुनायी दे रहा है । मेरे कानों में बन्दियों की कर्ण-पुकार गूँज रही है । (उत्तेजित हो जाता है) युद्ध में इतने आदमी मरते क्यों हैं, युद्ध होते क्यों हैं !

संघमित्रा—भैया आप को क्या हो गया है । आप अस्वस्थ हैं, आपका मन दुःखी है, आपको संगीत की आवश्यकता है । मैं अभी गायिका को भेजती हूँ ।

(संघमित्रा का गमन)

अशोक—(उसी तरह अनमना-सा) क्यों इतने आदमी मरते हैं ?
क्यों इतना रक्त बहता है ? संघमित्रा ! बन्दी कहता था कि मैंने धरती-
माता को अपने बेटों के रक्त पीने को विवश किया । अपने बेटों के रक्त !
क्या संघमित्रा...संघमित्रा...(संभल कर देखता है) गयी.....महामात्य
कहते थे कि यह कलिङ्ग कुमार की बड़ी प्रशंसा कर रही थी । वह है भी

अनुपम वीर । उस दिन आखेट में उसका हस्त-लाघव देखा था; आज इस महानाश में उसका अदम्य साहस देखा । मैं चाहता तो उसी क्षण उसका सिर काट लेता । लेकिन .. लेकिन ! साहसी मनुष्य के सामने मौत भी कांप जाती है । उसका साहस भी अंगद के पैर के समान मेरे क्रोध के सामने उटा रहा । यही नहीं उसने मुझे चुनौती भी दी (स्वर गूंजता है) “बस एक बन्दी का सिर भी नहीं झुका सके । खोपड़ियां ठुकराने के लिये तो गोदड़ भी इमशान में घूमा करते हैं ।” ...मैं एक बन्दी का सिर नहीं झुका सका, एक बन्दी का, मैं, जिसके इंगित पर लक्ष-लक्ष सिर पैर को चूमते हैं, जिसकी भूकुटि पर काल कांप उठता है, वह एक सिर नहीं झुका सका । क्या सचमुच मैं इतना दुर्बल हूँ ? क्या मेरी शक्ति कायर की शक्ति है । कायर...हाँ । गोदड़ कायर ही होता है । कुमार ने मुझे गोदड़ ही कहा । खोपड़ियां ठुकराने वाला गोदड़ । मैं खोपड़ियां ठुकराता हूँ, मैं खोपड़ियां ठुकराता हूँ .. (गहरा उच्छ्वास) मैं खोपड़ियां ठुकराता हूँ । ठीक तो है; मैं उसका सिर नहीं झुका सका । सघमित्रा भी तो कहती थी कि शौर्य तलवार में नहीं होता शायद वह ठीक कहती है...तलवार में शौर्य नहीं होता । तभी तो मैं जीते जी उसका सिर नहीं झुका सका । अब उसका सिर काटकर उससे बदला लेना चाहता हूँ । सिर काटकर .. उसके सिर को ठुकरा कर...गोदड़ भी निर्जीव सिर को ठुकराता है, मैं गोदड़ हूँ । मैं.....हाँ, मैं गोदड़ हूँ । मैं एक बन्दी का सिर नहीं झुका सका ।

(राधागुप्त का प्रवेश)

अशोक—(चौंक कर) कौन महामात्य !

राधागुप्त—सम्राट् की जय हो, एक बौद्ध भिक्षु आप से मिलना चाहते हैं ।

अशोक—(नम्र स्वर) बौद्ध-भिक्षु को अभी रहने दो । मैं तुम से पूछता हूँ कुमार यही कहता था न कि मैं एक बन्दी का भी सिर नहीं भुका सका ।

राधागुप्त—देव, बन्दी का सिर कुछ ही घन्टों में आपके चरणों में लोटेगा ।

अशोक—यही तो ; वह यही तो कहता था । खोपड़ियाँ ठुकराने के लिये तो गीदड़ भी श्मशान में घूमा करते हैं । गीदड़ कायर होते हैं । अमात्य ! कायर पुरुष को ही तो गीदड़ कहते हैं ।

राधागुप्त—(धीरे से) सम्राट्, आपका चित्त ठीक नहीं है । आज क्या कोई गायिका नहीं आयी ?

अशोक—राधागुप्त, संघमित्रा कहती थी कि वीर पुरुष जिस संगीत को सुना करते हैं वह घायलों की चीत्कार और बन्दियों की करुण पुकार से उठता है । लेकिन महामात्य, मैं तुम से पूछ रहा था कि, क्या मैं बन्दी का सिर नहीं भुका सकता ? क्या उसका सिर काटना ही होगा ?

राधागुप्त—जो भारत सम्राट् की आज्ञा नहीं मानता उसका सिर काट लेना ही उचित है ।

अशोक—लेकिन महामात्य, आज्ञा तो वह फिर भी नहीं मान सकेगा ।

राधागुप्त—सम्राट् ! यदि वह आज्ञा मानता तो उसे दरुड क्यों मिलता ?

अशोक—यही तो संघमित्रा कहती थी कि तलवार में शौर्य नहीं होता, वह हृदय में होता है । क्यों महामात्य, तुम हृदय की शक्ति को जानते हो ?

राधागुप्त—मैं हृदय की शक्ति को नहीं जानता देव ! पर संगी की शक्ति को अवश्य जानता हूँ । मैं अभी उसका प्रबन्ध करता हूँत । (जाता है, फिर रुकता है) ओह ! मैं भूल गया सम्राट् , द्वार पर एक भिक्षु खड़े हैं ।

अशोक—भिक्षु मुझसे मिलने आये हैं, इस समय ?

राधागुप्त—सम्राट् ! वह कलिङ्ग-कुमार से भेंट करना चाहते हैं ।

अशोक—किस लिये ?

राधागुप्त—शायद वह कुमार को.....।

अशोक—(एकदम) शायद वह कुमार को मेरी अधीनता स्वीकार करने के लिये राजी करना चाहते हैं । (हँसकर) महामात्य, जो काम मैं नहीं कर सकता उसे शस्त्र कर सकते हैं, भिक्षु कर सकते हैं । यह कैसी विडम्बना है ? यह कैसी शक्ति है ? मैं इतना दुर्बल हूँ, फिर भी सम्राट् हूँ ।.....नहीं, नहीं महामात्य, मैं वह शक्ति चाहता हूँ जिसके द्वारा बन्दी का सिर भुका सकूँ । क्या वह शक्ति मुझे मिल सकती है ?

(महेन्द्र का प्रवेश)

महेन्द्र—अवश्य मिल सकती है, सम्राट् ! शर्त केवल इच्छा की है ।

अशोक—कौन ? महेन्द्र !

महेन्द्र—आज्ञा सम्राट् !

अशोक—सम्राट्, सम्राट् ? महेन्द्र तुम भी मुझे सम्राट् कहोगे ?

महेन्द्र—जो आज तक कहता आया है, उसको अचानक बदल देने का कोई कारण नहीं दिखायी देता ।

अशोक—ठीक है महेन्द्र, तुम ठीक कहते हो, परन्तु तुम नहीं जानते उस बन्दी कुमार ने मुझ से कहा था कि सबसे पहले हम साधारण पुरुष हैं । मैं अशोक पहले हूँ सम्राट् पीछे ।

महेन्द्र — हंसकर) और सम्राट् ने उसकी बात मान ली ।

अशोक — तब तो नहीं मानी थी, पर अब मुझे ऐसा लगता है, जैसे मुझे कोई अशोक कहकर पुकारे ।

महेन्द्र — सम्राट् आज कुछ दीन दिखाई दे रहे हैं, महामात्य ! ऐसा क्यों है ?

अशोक — महामात्य को कुछ पता नहीं, महेन्द्र ! वह मेरी वाणी है । सच पूछो तो मुझ को भी कुछ पता नहीं । मुझे उस बन्दी ने दया का पात्र बना दिया है । मेरा हृदय जल रहा है । मुझे लगता है, जैसे मैं अकेला हूँ, जैसे मैं एक दुर्बल प्राणी हूँ ।

महेन्द्र — भैया, यह तुम क्या कह रहे हो ?

अशोक — भइया ! महेन्द्र एक बार फिर कहो तो 'भइया' ।

महेन्द्र — भइया !

राधागुप्त — सम्राट् ! भिक्षु के लिये क्या आज्ञा है ?

अशोक — ओह ! महामात्य उनके आने के पहले मुझे यह बताओ कि क्या मैं कुमार के दरङ पर फिर से विचार कर सकता हूँ ?

राधागुप्त — सम्राट् सब-कुछ कर सकते हैं । परन्तु उन्हें अपने पद की मर्यादा को समझ लेना चाहिए ।

अशोक — सम्राट् के पद की मर्यादा ! तब तो महामात्य मैं सम्राट् न हुआ, एक बन्दी हुआ ।

(उपगुप्त का प्रवेश)

उपगुप्त — जब तक व्यक्ति अपने लिये जीता है, तब तक वह बन्दा ही रहता है । आकांक्षा की परिधि सीमित होती है परन्तु उसकी व्यास बढ़ी भयंकर होती है, सम्राट् ! मकड़ी के जाले के समान उसमें फँस कर कोई जीवित नहीं रहा है ।

अशोक—भिक्षु उपगुप्त ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ, भन्ते !

उपगुप्त—सम्राट् का कल्याण हो, मैं कलिङ्ग-कुमार से मिलना चाहता हूँ ।

अशोक—महामात्य ने मुझे अभी बतलाया था, लेकिन मुझे लगता है कुमार से अधिक मुझे आपकी मन्त्रणा की आवश्यकता है । अच्छा भन्ते ! आप तो चिन्तन करते हैं । क्या कोई ऐसी शक्ति है जो बिना नाश किये ही विरोधी को पराजित कर सके ?

उपगुप्त—किसी को पराजित करने की भावना ही मनुष्य की सबसे बड़ी दुर्बलता है, सम्राट् !

अशोक—(दोहराता हुआ) किसी को पराजित करने की भावना ही मनुष्य की सबसे बड़ी दुर्बलता है ।

उपगुप्त—सम्राट् रात बीत रही है !

अशोक—रात बीत रही है, सच क्या रात बीत रही है ? भन्ते, कितनी सुन्दर बात कही है । रात बीतती है तभी प्रभात होता है ।

उपगुप्त—लेकिन आज का प्रभात किसी की मृत्यु का सन्देश लेकर आ रहा है, सम्राट् !

अशोक—आप कलिङ्ग-कुमार की बात कर रहे हैं, भन्ते ! वह मृत्यु और जीवन से परे हैं । मैं उन्हें दण्ड देने की स्पर्धा नहीं कर सकता । वह स्वतन्त्र हैं ।

(सब चकित होते हैं)

राधागुप्त—सम्राट् !

अशोक—सुनो महामात्य, कलिङ्ग-कुमार सुक्त ही नहीं हैं, वह अपने राज्य के स्वामी हैं ।

महेन्द्र—(अचरज से) भइया ! क्या आप सच कह रहे हैं ?

उपगुप्त —सम्राट्, मैं यह क्या सुन रहा हूँ ?

अशोक —जो कुछ आप सुन रहे हैं वह ठीक ही है, परन्तु ऐसा क्यों हो रहा है यह मैं स्वयं नहीं जानता । रह-रह कर कलिङ्ग-कुमार की बातें मुझे याद आ रही हैं । रह-रह कर रणभूमि का चित्र मेरे नयनों में उभर आता है । रह-रह कर चोत्कार का संगीत मेरे कानों में गूँज उठता है । मैं अब गोदड़ बन कर श्मशान में खोपड़ियों को नहीं ठुकराना चाहता । मैं मनुष्य बनकर मनुष्य को जीतना चाहता हूँ ।

(सत्र चकित पर प्रसन्न मुद्रा से अशोक को देखते हैं)

महेन्द्र - भइया आपने जो काम किया है वह मनुष्य ही कर सकते हैं । आपकी जय हो । आइये आचार्य, हमें शीघ्र ही बन्दीगृह में जाकर कलिङ्ग-कुमार को यह शुभ-समाचार देना चाहिए ।

उपगुप्त —चलो महेन्द्र ।

(महेन्द्र और उपगुप्त का गमन)

राधागुप्त—लेकिन सम्राट्, सिंहल-विजय का क्या होगा ?

अशोक (हँसता हुआ) सिंहल-विजय अवश्य होगी, परन्तु कैसे होगी उस पर विचार करेंगे । अब तो मैं कलिङ्ग-कुमार से मिलना चाहता हूँ । देखो, संघमित्रा दिखायी दे तो उसे भी बुला लो और तुम भी चलो ।

राधागुप्त—जो आज्ञा देव ..!

[राधागुप्त का गमन, सम्राट् घूमने लगते हैं । पदचाप उठते हैं और मिटते हैं । फिर प्रभात का संगीत उठता है । उसी के साथ कथा समाप्त होती है ।]

(परदा गिरता है)

बाहर का आदमी

(डा० लक्ष्मी नारायण लाल)

हिन्दी के नये एकांकीकारों में डा० लक्ष्मीनारायण लाल को अच्छी ख्याति तथा प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। इसका प्रमुख कारण यह है कि डा० लाल के एकांकी अभिनय, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक समस्याओं को स्पष्टता प्रदान करनेवाले हैं। उनके नाटकों में जीवन की समस्याएँ सिद्धान्तों के साथ ही साथ चलती हैं। इस प्रकार से उनके एकांकी नाटकों से हमें जीवन के तर्क सम्मत दृष्टिकोण मिलते हैं। नाटक के आरम्भ में ही कौतूहल की सृष्टि का ढंग तथा दर्शकों एवं पाठकों की उत्सुकता को तीव्रतर कर देना, इनकी नाट्य-कला की विशेषता है। डा० लाल ने ऐतिहासिक एकांकी नाटकों की भी रचना की है। ऐतिहासिक एकांकियों में जहाँ इन्होंने प्राचीन गौरव की झलक अंकित किये हैं, वहाँ सामाजिक नाटकों में विवेक तथा तर्क को प्रमुख स्थान देते हैं। मानव जीवन की सूक्ष्मताओं, प्रवृत्तियों तथा विशेषताओं को कलात्मक ढंग से व्यक्त करने का कौशल इनकी रचनाओं में सर्वत्र उपलब्ध होता है।

डा० लाल के एकांकी नाटकों में वार्तालाप संक्षिप्त, सजीव तथा प्रभावशाली हैं। 'बाहर का आदमी' नाटक के कथोपकथन बड़े ही संक्षिप्त तथा स्वाभाविक हैं। इस एकांकी के घटनाओं के माध्यम से रोचकता तथा कौतूहल की सृष्टि की गयी है। एक घटना के अनन्तर द्वितीय घटना की शृङ्खला का क्रम इतनी सुन्दरता के साथ आता है कि पाठकों एवं दर्शकों के चित्त की वृत्ति कथानक को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाने पाती है।

एकांकी साहित्य के क्षेत्र में डा० लाल का भविष्य समुज्ज्वल है।

पात्र

जंगूसिंह

बलीसिंह

शांतीलाल

माँ (घर के भीतर से)

लाला जी

कल्ली

बाहर का आदमी

[जंगल का एक भाग । चबूतरेनुमा धरती के एक आसन पर कपड़ा बिछा है और उस पर काली की भयावह मूर्ति रखी है । सामने पूजा-अर्चना के स्थान पर दो तलवारे और दो बन्दूके हैं ।

दिन डूबने में जरा-सी देर है । पर्दा उठने पर जगूसिंह (उम्र प्रायः पैंतालिस वर्ष) खूब हृष्ट-पुष्ट । व्यक्तित्व से सचमुच सरदार लग रहा है । श्रद्धा से काली मूर्ति के सामने नत सिर है । बलीसिंह, जिसकी अवस्था पैंतिस-चालिस के बीच में है, दौलत के ढेर पर भूखे सिंह की तरह पिला पड़ रहा है ।]

बली—(मृदु में रुपये उठाकर नीचे हथेली पर उनकी वर्षा करते हुए) वाह ! वाह !! क्या बोल हैं इसके । इतना सोना ! अहा हा ! छम... छनन.....न... ।

जंगू—(घूमकर) बलीसिंह । पहले काम खतम कर लो !

बली—काम तो कल रात ही खतम कर लिया...अब क्या काम ? यह लो चाँदी अलग, सोना अलग !

जंगू—यह हमारा पहला डाका है, बलीसिंह !

बली—मुहरत कहो मुहरत !

जंगू—नहीं, काली माई की कृपा ! पहले माँ काली को सोना चढ़ाओ ! (चढ़ाकर) अब हम डाकू हैं बलीसिंह, चोर नहीं !

बली—चोर तो हम पहले भी नहीं थे !

जंगू—(स-व्यंग्य) नहीं, चोर नहीं थे । किसी के बच्चे को उठा लाना, फिर रुपये वसूल करना (रुककर) छिः, चोरी से भी बदतर !

बली—(एकाएक सावधान होकर खड़ा हो जाता है और भपटकर बन्दूक उठा लेता है) कोई आ रहा है ।

जंगू—हैं ।... है तो . । कोई लौंडा-सा है ! (रुककर) लेकिन कायर नहीं । अरे, शांतीलाल जैसा लग रहा है (बन्दूक छीन लेता है) शांतीलाल है ।

[दायीं ओर से शांतीलाल का प्रवेश—ब्रस्त, तार-तार-सा फटा और टूटा हुआ । आकर चुपचाप डरा-सा एक कोने में खड़ा हो जाता है ।]

जंगू—क्यों ?...कैसे लौट आया ? अबे मनहूस, बोलता क्यों नहीं ? क्या बात है रे ?

(शांती मुंह छिपाकर रो पड़ता है ।)

बली—जनाना कहीं का, रोने लगा ।

जंगू -- यहाँ रोने आया है ?

बली—मरने आया है मरने ! पहले बच के चला गया, मरने अब आया है !

शांती—(फूटकर) हाँ सरदार । सच; मैं मरने आया हूँ ।

(दोनों हंस पड़ते हैं ।)

बली—क्यों, अपने घर तक नहीं पहुँचा क्या ?

शांती—घर वालों ने मुझे निकाल दिया ।

जंगू—निकाल दिया ? क्या बकता है ?

शांती—घर वालों ने मुझे नहीं पहचाना !

जंगू—तेरे माँ-बाप ने तुझे नहीं पहचाना ? (क्रोध से) भुट्टा कहीं का । तू अपने घर तक पहुँचा भी था ?

शांती—जब मैं अपने घर पहुँचा, रात हो चुकी थी। दहलीज से आगे बढ़ा तो सामने ही माँ दीखीं। मुझे देखते ही दहाड़ मारकर चीख पड़ीं कि मैं भूत हूँ। मरकर भूत बन गया हूँ। मुझे साल भर पहले जंगूसिंह ने मार डाला है।... उस घर के लिये मैं मर चुका हूँ सरदार।

[क्रम-परिवर्तन। स्टेज की सारी रोशनी सिमटकर शांतिलाल पर जमी जाती है। काली की मूर्ति के आगे एक पर्दा खिंच आता है जिसमें एक दरवाजा और एक खिड़की है। शांती की माँ उसे दरवाजे से आती दोख पड़ती है।]

माँ—(शांती को देखते ही, डर से चीख उठती है) नहीं . नहीं . (आर्त पुकार से) दौड़ो चन्दा के बाबू...दौड़ो . भूत...भूत...शांती का भूत मुझे लीलने आया है।

शांती . माँ, मैं हूँ...मैं। मैं शांतिलाल हूँ माँ।

माँ—भूत...भूत (डर से पुकारती हुई) चन्दा के बाबू।... कहाँ हो ?

शांती—नहीं माँ।...पहचानो मुझे। मैं शांतिलाल हूँ, आपका शांती लाल। मैं भूत-प्रेत नहीं। मैं शांतिलाल हूँ ..पिता जी कहाँ हैं ?

माँ—(दरवाजे पर आती हुई, डर से) नहीं नहीं। दूर रहो दूर !.. मुझे छुओ नहीं !

[तेजी से दरवाजा बन्द कर लेती है। बन्द दरवाजे पर शांती सिर टिकाकर रो रहा है। तभी भीतर से आवाज आती है।]

लाला जी—क्या है ?...इस तरह काँप क्यों रही हो ?

माँ—शांती का भूत आया है ! बाहर खड़ा है। (घबराकर) नहीं नहीं। दरवाजा मत खोलो। पकड़ लेगा। लील जायगा। कहता है, मैं शांतिलाल हूँ।

लाला जी—वहम है तुम्हारा ! शांतीलाल को तो डाकुओं ने मार डाला — जंगू ने उसका गला घोट दिया ! अब तो एक साल पूरा हो गया ।

माँ—उसी की आत्मा प्रेत-योनि में आयी है ।

लाला जी—हत्या जंगू । पहले सोलह हजार, फिर दस, फिर आठ हजार । तेरह दिसम्बर वही आखिरी तारीख थी ।

(वन्द दरवाजे पर शांतीलाल सिर टकराता है ।)

शांती—पिता जी मैं जिन्दा हूँ । दरवाजा खोलिए ।

माँ—नहीं-नहीं, दरवाजा मत खोलो ? (दरवाजा जरा-सा खुलता है । वह फिर दरवाजा बन्द कर देती है ।) खबरदार, दरवाजे को छुओ तक नहीं ? शांती भूत बन कर आया है ।

लाला जी—ठीक कहती हो तुम ! मेरा शांती तो मर गया । एक वर्ष होने को आया ।

शांती—मैं मरा नहीं हूँ पिता जी ! जंगू ने मुझे छोड़ दिया ।

लाला जी—हाँ बेटे । आत्मा अमर है (खिड़की से भाँकता है) मैं पहचान रहा हूँ, तू मेरे शांती की आत्मा है—भटकती हुई आत्मा !

शांती—यह क्या कह रहे हैं आप ?

लाला जी—मैं सच कह रहा हूँ । मैं जंगू को दस हजार रुपये न दे सका । आठ हजार भी न दे सका । मैं बीमार हो गया था—और तुम्हारी माँ इतनी रकम कैसे जुटाती । मुझे माफ करो शांती की आत्मा । (रुककर) घबराओ नहीं, दान-पुण्य, पूजा-पाठ से मैं तुम्हें प्रेत-योनि से जरूर मुक्त करूँगा, घबराओ नहीं !

[स्टेज की सारी रोशनी धूमिल पड़ने लगती है । दरवाजे वाला पर्दा पीछे हट जाता है और जंगल का वही दृश्य और काली की मूर्ति दिखायी देती है । साथ ही जंगूसिंह और बलीसिंह की हंसी फूटती है ।]

जंगू—तो तेरे घर वालों ने तुझे प्रेत समझ लिया । (साश्चर्य) माँ ने नहीं पहचाना ?

शांती—माँ क्या पहचानती ! लेकिन पिता जी ने भी नहीं पहचाना । मैं उन सब के लिये मर गया हूँ । मैं घर से बाहर निकाल दिया गया—प्रेत समझ लिया गया ।

बली—क्यों रे ! यह चन्दा की माँ तेरी असली...

शांती—नहीं, मेरी माँ मर गयी । यह मेरी सौतेली माँ है ।

जंगू-बली—धत् तेरे की । यह पहले क्यों नहीं बताया ?

जंगू—ओहो ! जभी मैं कहता था कि इसके घर वाले कैसे बेदर्द हैं कि बेटे की जान के लिये आठ-दस हजार रुपये भी नहीं दे सकते ।

बली—हमारी जासूसी ही गलत थी, वरना हम लोग तुझ जैसे उल्लू के पट्टे को उठा कर लाते ? छूते तक नहीं ।

जंगू—हमने तभी से यह पेशा छोड़ दिया । जब आदमी की कोई कीमत ही न रह गयी, फिर इस पेशे में रहा क्या ? हमें यहाँ अनाथालय नहीं खोलना ।

बली—सुन बे । अब भाग जा यहाँ से । अब हम डाकू हो गये हैं । देख यह बन्दूक । चौबीस जवानों का अपना गिरोह है ।...जा, भाग जा यहाँ से ।

शांती—कहाँ जाऊँ ? तुम्हीं बताओ, अब मैं कहाँ जाऊँ ?

जंगू—जा किसी कुएं-नदी में डूब मर ।

शांती—तुम्हीं लोग ले चलो । तुम्हीं मुझे चुरा लाये थे, अब तुम्हीं

जंगू—(क्रोध से) क्या बकता है । जबान खींच लूँगा ।

शांती—फिर भी यही कहूँगा ।

जंगू—देखा बली सिंह । दया की, गले पड़ गया ।

बली—तेरी खेरियत इसी में है कि तू भाग जा यहाँ से । भागता है कि नहीं ? (उसे पकड़ लेता है) बोल भागेगा कि नहीं ?

[शांती उत्तर नहीं देता । आँखें फाड़े उसे एक-टक देखता रहता है । बलीसिंह उसे खींचकर पीटता हुआ नेपथ्य की ओर जाता है ।]

शांती—(पीटते हुए बेपरवाही से) मार डालो मुझे । खूब मारो, मुझे प्रेत बनाने वालो !

जंगू—बस . बस बलीसिंह, बन्द करो पीटना ।

शांती—तुम दोनों प्रेत हो ।

बली—(क्रोध से) फिर बोले तो...

शांती—जबान खींच लोगे ! मैं तब भी बोलूँगा । सच सच कहूँगा । तुमने मुझे प्रेत बनाया है । देखो मुझे, मैं ऐसे ही था ?... कौन अब पहचानेगा मुझे ?

जंगू—नहीं रहेगा चुप ? भागेगा नहीं शांती ?

शांती—शांती मर गया । यह उसी का प्रेत खड़ा है ।

जंगू—बलीसिंह ! इस गधे को घसीटकर दूर कर दो यहाँ से । हमारे पास इसके लिए कोई फुर्सत नहीं ।

बली—(शांती पर क्रोध से झपटता है, गिरा देता है और उसे घसीटता हुआ) चल । अब तुझे जहन्नूम में छोड़ आऊँ ।

[घसीटता और पीटता नेपथ्य में ले जाता है । नेपथ्य से शांतीलाल की एक चीख सुनायी पड़ती है, फिर वहीं से बलीसिंह की आवाज आती है ।]

बली—अब यह बेहोश हो गया ।

जंगू—छोड़कर चले आओ । वहीं पड़ा-पड़ा अपने-आप मर जायगा ।

बली—(आते हुए) और अभी इस पर जंगली जानवर लग जायेंगे ।

जंगू—चलो खत्म हुआ यह किस्सा । (रुककर) कितनी देर हो गयी । बलीसिंह, सब रुपये बाँध लो ।

बली—(उठाकर) और यह सोना ?

जंगू—इससे बन्दूकें और पिस्तौल खरीदे जायेंगे । (बली के हाथ से सोना ले लेता है ।) कितना उम्दा सोना है ! जो होता है, अपनी कल्ली बेटी के लिए दो-तीन गहने बनवाऊँ ।

बली—जरूर । जरूर बनवाओ । पहले डाके की दौलत है, निशानी रहेगी ।

जंगू—जब तक कल्ली की माँ जिन्दा थी, मैं जेल ही में भटकता रहा । बड़ी दौलत पैदा की, लेकिन मैं उसे एक भी गहना न पहना सका ।

बली—(सब दौलत को बाँधता हुआ) अच्छा चलो, भाभी नहीं तो उसकी कल्ली बेटी पहनेगी ।

जंगू—अब चलो चले यहाँ से ।

[सब सामान सहेजकर जैसे ही वे चलने को होते हैं, एकाएक शांती प्रवेश करता है ।]

जंगू—तू फिर जी गया ?

बली—इसके मत्थे पर सचमुच मौत नाच रही है। (बन्दूक ठीक करता हुआ) इस गधे पर एक कारतूस जाया करना ही पड़ा।

शांती—(बन्दूक पकड़ लेता है) जगूसिंह...सरदार।

(स्वर जैसे टूट-टूट जाता है ।)

जंगू—क्या कहना चाहता है ?

शांती—मैं डाकू बन गया हूँ। तुमने पीटा और मैं बेहोश बन गया। मैं सब सीख गया हूँ (फूलती हुई साँस को दबाकर) मैं भी डाकू हो गया हूँ सरदार। आज से मैं भी डाकू हो गया हूँ।

जंगू-बली—यह मजाक !

जंगू—(क्रोध के आवेश में) इस बार मैं मारूंगा तुम्हें। (बलीसिंह से बन्दूक लेता है) कारतूस लगी है न ? (खोलकर देखता है) चल मर अब।

(शांती पत्थर की तरह बन्दूक के सामने खड़ा हो जाता है ।)

शांती—चलाओ गोली ! मैं मर चुका हूँ—दर्द खतम हो गया है।

बली—तुमसे गोली नहीं चलती ? (बन्दूक लेने लगता है) मुझे दो !

जंगू - नहीं बलीसिंह ! शांतीलाल में हिम्मत है ! जो मेरी बन्दूक से न डरा, वह जरूर बहादुर है। चलो शांतीलाल, आज से तुम मेरे शागिर्द हुए।

शांती—शागिर्द नहीं, डाकू ! तुम्हारी टोली का पच्चीसवाँ जवान !

जंगू—शाबाश ! चलो, माँ काली के सामने झुको—आशीर्वाद लो।

(शांती मूर्ति के सामने झुकता है ।)

जंगू—यह लो बन्दूक। जानते हो चलाना !

शांती—(बन्दूक लेकर) सब जान गया हूँ ।

(फायर करता है ।)

जंगू-बली—शाबाश ! ..कैसे—कब सीख ली ?

शांती—बस, चल गयी । सब सीख लिया । आज सब आ गया ।
(रुककर) एक डाकू के लिए जो-जो जरूरी है, वह सब मुझमें आ
गया ! अभी-अभी मिला है ।..मेरी परीक्षा लो सरदार जंगूसिंह !

(जबान सूखे ओठों पर फेरता है ।)

जंगू—पास हो गये तुम (बलीसिंह से) बलीसिंह, पानी पिलाओ
इसे । बहुत प्यासा है ।

शांती—नहीं नहीं । मेरी प्यास मर गयी सरदार । मुझे पानी नहीं
चाहिए ।

जंगू—शाबाश । चलो यहाँ से, आज तुम्हें बहुत उम्दा-उम्दा खाना
खिलाऊंगा, शांतिलाल !

शांती—सरदार ! आज से मेरा नाम शान्तिलाल नहीं । वह मर
गया, मेरा नाम अब अशांती है !

जंगू-बली—(हँसकर) अशांती लाल !

शांती—लाल भी नहीं !...शांतिलाल, यह नाम मेरी बुआ ने
रखा था ।

वह चली गयी...मैं चला गया । मेरी माँ भी नहीं रही । अब इस
भूत का नाम अशांती है—केवल अशांती ।

(दोनों डाकू हँसते हैं ।)

जंगू—बलीसिंह । देख लेना, यह हमारे गिरोह का सबसे बहादुर
जवान होगा ।

शांती—कल ही कहीं डाका डालकर मेरा इम्तहान लो सरदार !

जंगू—घबराओ नहीं । अभी चार-छः दिन खूब आराम कर लो ! तुम्हारे लिए कपड़े बनेंगे । तुम्हें अपने बेटे की तरह रखूँगा ।

शांती—नहीं सरदार, मैं जो हूँ, वही रहूँगा । मुझे बस हथियार चाहिए । नयी बन्दूक, नयी पिस्तौल !

जंगू—सब मिलेगा—जो-जो तुम चाहोगे, मिलेगा ।

शांती—सरदार, मैं कल ही डाका डालना चाहता हूँ ।

बली-जंगू—लेकिन कहाँ ? किस पर ?

शांती—लाला शंकरदयाल के घर ! उस घर, जहाँ बेटे के लिए दरवाजा बन्द हो गया । जिसने अपने बेटे को पराया समझा । पराया बना दिया । (आवेश में) सरदार । उस दौलत भरे घर को अगर मैं अकेला लूटकर न दिखा दूँ तो मेरे नाम पर थूक बेना । मुझे मेरी बुआ की कसम ! मेरी माँ की कसम !

जंगू—अच्छी बात है ।

बली—हम आज ही से तैयारी करेंगे । अपने जवानों को इकट्ठा कर लें ।

शांती—मैं तो कहता हूँ, मैं उस घर के लिए अकेला काफी हूँ । मुझे सब पता है, मेरे घर की दौलत कहाँ-कहाँ रखी है । मैं अकेला लूटकर दिखाऊँगा !

(दोनों चुप हैं)

शांती—(कटु आवेश में) दस हजार से भी ज्यादा के गहने तो मेरी माँ छोड़कर मरी थी । (रुककर) उस घर से मेरी कीमत आठ हजार भी न आँकी गयी ।

जंगू—वह सब भूल जाओ !

शांती—नहीं सरदार । जो मुझ पर बीता है, वह क्या भूलेगा ? मैं उतना ही हूँ जो बीत गया हूँ ।

बली—अच्छा बाबा, चुप रह । उठा यह सामान, अब हम लोग यहाँ से चलेंगे !

जंगू—अभी चलोगे ? हमने सूरज डूबने का समय दिया था अपने जवानों को, वे सब आ ही रहे होंगे ।

बली—सूरज तो डूब गया ।

जंगू—बस आ ही रहे होंगे । उनके हिस्से बाँट देंगे और लाल शंकर-दयाल पर डाका डालने की सारी स्कीम बना लेंगे ।

शांती—सरदार ! मानो मेरी । सारी स्कीम मेरे दिमाग में है । रह-रह-कर बिजली की तरह कौंध रही है ।

[पृष्ठभूमि में कुछ लोगों के आने तथा बोलने-चालने की आहट होती है]

बली—(नेपथ्य में देखकर) वे लोग आ रहे हैं ।

जंगू—सब आ गये हैं ।

बली—हाँ सभी दिखायी देते हैं ।

जंगू—अशांती ! लो मेरी गोल के जवानों से मिलो ।

[शांती अपनी बन्दूक को तानकर कुछ देखता रह जाता है । डाकुओं की आवाज मंच के पास पहुँच जाती है । 'जै काली की' के स्वर उठते हैं । तभी मंच पर प्रकाश धूमिल हो जाता है । बन्द दरवाजे वाला एक और पर्दा विंग से आकर जंगल और काली की

मूर्ति को ढंक लेता है। जब रोशनी होती है तब बलीसिंह के घर का बरामदा दिखायी देता है। दायें-बायें एक-एक चारपाई पड़ी है। रात का तीसरा पहर है।

जंगू के साथ शान्ती आता है। कन्धे पर बन्दूक लटक रही है। साफ ग्रन्थे कपड़े पहने है। पहले के शान्ती की अपेक्षा बिलकुल नया आदमी हो गया है। बन्द किवाड़ों पर जंगू दस्तक देता है।]

शान्ती—यहाँ कहाँ आ गये ? तुम्हारा गाँव तो गोलागंज में था।

जंगू—यह बलीसिंह का घर है। मैंने गोलागंज छोड़ दिया। जब से यह पेशा इस्तरार किया है, तब से मैं कहीं एक जगह नहीं रहता।

[फिर बन्द दरवाजे पर दस्तक देता है, इस बार भीतर से कल्ली की आवाज आती है।]

कल्ली—आयी काका...चिराग जला रही हैं।

शान्ती—सरदार। यह तो जैसे कल्ली की आवाज है।

जंगू—ओ हो ! आवाज से तो तू कल्ली को पहचान गया ?

शान्ती—मैं तो बहुत दिनों उसके संग रहा हूँ—जब तुम मुझे चुराकर लाये थे

जंगू—(बीच ही में) खोलती है रे ?

कल्ली—आ गयी बाबू।

(दाये हाथ में चिराग लिये कल्ली बन्द दरवाजा खोलती है।)

कल्ली—(आश्चर्य से) अरे ! यह कौन है बाबू ?

जंगू—पहचाना नहीं ? अरे ! वही शान्तीलाल तो है। जरा कपड़े-लत्ते नये पहने है।

कल्ली—अरे ! यह फिर कैसे आ गया ? घर नहीं गया क्या ?

[जंगू भीतर चला जाता है । शान्ती दरवाजे से लगा चुपचाप खड़ा है ।]

कल्ली—जब घर से लौट आये, तब यहाँ क्या खड़े हो ? चलो भीतर आओ न ?

[शान्ती चुपचाप लौटकर दायाँ ओर की चारपाई पर सिर थामकर बैठ जाता है । कल्ली दलहीज में निःस्पन्द खड़ी रह जाती है । कुछ क्षण बाद भीतर से जंगू लौटता है !]

जंगू—बली की बट्ठ तो घोड़े बेच कर सोयी है ।

कल्ली—बली काका आज शाम को आये थे, फिर न जाने कहाँ चले गये, कुछ बताया नहीं !

जंगू—तुझे क्या बताता, काम से गया है !.....क्यों अशान्ती, कुछ खाओ-पीओगे नहीं ?

शान्ती—(जैसे जगकर) क्या ? ओह !...पानी पिऊंगा ।

जंगू—ला, बड़ा लोटा भर पानी पिला तो ! आज दो दिन हो गये ईसे मेरे साथ । लेकिन पानी के अलावा इसने कुछ नहीं लिया !

(कल्ली भीतर जाती है)

जंगू—क्यों ? अगर तुम इस तरह भूखे रहे तो कल का डाका कैसे होगा ?

(कल्ली आती है । उसके हाथ से लोटा भर पानी घूँट जाता है ।)

शान्ती—(लम्बी साँस लेकर) सरदार ! वह काम तो भूख ही से होगा । (खड़ा होकर) भूख में इतनी ताकत है कि बन्दूक में क्या होगी ! (कटुता से) गला घोट दूँगा लाला शंकरदयाल का ! उलट दूँगा निलोगियाँ । मेरी ताकत भूख है ।

(सहसा घर से आवाज आती है ।)

आवाज—कल्ली...ओ कल्ली !

जंगू—जग गयी बली की बहू ।

[भीतर चला जाता है । चिराग लिये कल्ली शान्तीलाल के पास आती है ।]

शान्ती—क्या देख रही हो ?...अब मैं डाकू हो गया हूँ । मैं अब वह शान्तीलाल नहीं, जिसे तुम्हारे बाबू ने चुराकर दस हजार के लिए गुम कर लिया था । तब मैं चोरी का सामान था, अब मैं खुद डाकू हूँ !

कल्ली—डाकू हो गये तुम ?...

शान्ती—हूँ...लेकिन इस तरह ताज्जुब क्यों ?

कल्ली—सच, तुम डाकू हो गये ?

शान्ती—हाँ, हाँ । तेरे बाबू की गोल का पच्चीसवाँ जवान ।...कल मेरा पहला डाका होगा !

कल्ली—चुप रहो जी !

(शान्ती केवल हँसता है ।)

कल्ली—मैं कहती हूँ चुप रहो । लगता है तुम्हारा भेजा उलट गया है ।

शान्ती—सब कुछ उलट गया है कल्ली ।

कल्ली—तुम जरा सो लो ! अब सुवह बात कहूँगी तुम से ।

शान्ती—सोओ तुम ! मैं क्यों सोऊँ !

कल्ली—देखो, तुम कुछ बोलो नहीं ! जो पूछती है उसका उत्तर दो ...यहीं सोओगे या...

शान्ती—(बीच ही में) तुम जाओ यहाँ से । मैं यहीं बैठा रहूँगा ! मैं कहता हूँ, मुझे यों न देखो । कुछ नहीं समझोगी !... समझना हो, तो जाओ अपने बाबू से समझो या बलीसिंह आयेगा तो उससे समझना ।

[सहसा भीतर से जंगू की पुकार आती है ! “कल्ली । यहाँ चल ।”]

(कल्ली जाती है ।)

शान्ती—हाथ के कंगन . गले का चन्द्रहार .. माथे की बेंदी ... और कान के बाली-बुन्दे ।

(खुलकर हँसता है । इसी बीच कल्ली भीतर से दौड़ी आती है ।)

कल्ली—मैं नहीं पहनूँगी ये गहने...नहीं पहनूँगी ।

शान्ती—अच्छा !...लेकिन गहने तो नये हैं ।

कल्ली—डाके के तो हैं ।

शान्ती—ओ-हो । बड़े दिमाग हैं । ..लेकिन खाती किसका हो ?

कल्ली—(चुप है)

शान्ती—बेटी किसकी हो ? तुम्हारे शरीर में खून किसका है ?

कल्ली—मेरी माँ का !

शान्ती—माँ का ! (हँसता है) अच्छा तमाशा है ।

(जंगू का प्रवेश)

जंगू—मानेगी नहीं कल्ली ! मार खायेगी क्या ?

कल्ली—(उफन पड़ती है) और क्या है तुम्हारे पास ! डाका और मार ।

जंगू—चढ़ गया दिमाग !

[पकड़ लेता है और भीतर खींच ले जाता है । कुछ क्षण बाद कल्ली आंसू पोंछती आती है ।]

शान्ती—मैं तो समझता था कि तुम्हारा बबू अब तुम्हें न मारता होगा ।

कल्ली—जो मर गया वह मारने के सिवा और क्या करेगा ।

शान्ती—मैंने सुना था कि चोर और डाकू में अन्तर होता है, लेकिन कल्ली, तेरा बाबू तो चोर से ही डाकू हुआ है (रुककर) और यह बलीसिंह भी चोर ही रहा होगा...क्यों था न ?

कल्ली—चुप रहो, जरा भी नहीं डरते ।

शान्ती—अब क्यों डरूँ ।

कल्ली—तभी आदमी से डाकू बन गये ।

शान्ती—(चुप है)

कल्ली—इसके मानो तुम भी चोर थे ।

शान्ती—क्यों नहीं । इतने दिन चोर के घर का अन्न जो खाया है ।

कल्ली—वे मेरे हाथ की रोटियाँ थीं ।

शान्ती—तुम्हारे हाथ की ? तुम्हारा भी कुछ अलग है ।

कल्ली—है । जो मैं सोचती हूँ वही मेरा है । जो मैं भीतर हूँ...

शान्ती—(बीच ही में) लेकिन मेरे भीतर कुछ नहीं है । मैं जो हूँ केवल बाहर हूँ ।

कल्ली—भूठ ! मैंने तुम्हें आदमी बेखा था ।

शान्ती—वह मर गया । तुम्हें तो खुश होना चाहिए ।

कल्ली—मैं जंगूसिंह की बेटी हूँ इसलिए न (रो पड़ती है) मेरे बाबू ने इसीलिए तुम्हें मार डालने से छोड़ दिया था कि तुम डाकू बनो । जंगूसिंह ने कभी किसी लड़के को नहीं छोड़ा ।

शान्ती—(पीड़ा से) चुप रहो कल्ली । मेरी नसों में जहर मत घोलो, नहीं तो मैं तुम्हारे बाबू को बता दूँगा कि तुम...

कल्ली—जानता है मेरा बाबू । वह मुझे खूब जानता है । तभी वह मुझसे यूँ पेश आता है ।

शान्ती—जंगूसिंह ने मुझे ज़िन्दा छोड़कर मार दिया कल्ली । मुझे प्रेत सिद्ध कर दिया...मौत से भी भयानक ! (एकाएक कटु हो जाता है) कल्ली तुम यहाँ से भाग जाओ । हट जाओ मेरे सामने से । मुझे कुछ नहीं चाहिए ।

(भीतर से बन्दूक लिये)
जंगू का प्रवेश

कल्ली—(शान्ती से) कुछ खा लो तुम ।

शान्ती—मुझे अभी जाना है ।

जंगू—कल्ली हम जा रहे हैं । परसों-रात इसी समय लौटेंगे—इन्त-जार करना । जा भीतर । किवाड़ बन्द कर ले । चल अशान्ती ।

[जंगू बायीं ओर मुड़ता है । कल्ली देहरी पर वैसे ही चिराग लिये खड़ी शून्य में ताक रही है ।]

कल्ली—जाओ । मैं अपने ईश्वर से मनाऊँगी कि तुम सब मर जाओ । शान्ती तुम जरूर मारे जाओ । (रो पड़ती है ।) सब मारे जाओ ! मैं संसार में भीख माँग लूँगी पर चोरी डाके की रोटी न खाऊँगी ।

[शान्ती धीरे-धीरे दायीं ओर मुड़ता है । तभी कल्ली का चिराग एकाएक बुझ जाता है और उसी पर कल्ली झटके से किवाड़ बन्द कर लेती है । कुछ क्षणों तक रंगमंच बिलकुल अंधेरा रह जाता है । फिर जब धीरे-धीरे प्रकाश लौटता है, वही जंगल का दृश्य काली की मूर्ति के साथ सामने आ जाता है । नीचे जमीन पर जंगू और बलीसिंह डाके की दौलत के सामने बैठे हैं । दोनों के हाथों में शराब की बोतलें हैं । मस्ती में झूम रहे हैं, हंस रहे हैं ।]

जंगू—शाबाश शान्तीलाल । आओ इनाम लो अपना । हम बेहद खुश हैं तुमसे । जो कुछ माँगना हो माँग लो ।

[शान्तीलाल एकदम अस्त और उखड़ा-उखड़ा-सा आकर चुपचाप खड़ा हो जाता है । उसके दोनों हाथ जख्मी हैं ।]

बली—पहले ही डाके में तुम्हारी यह बहादुरी ! आओ... इस खुशी में मैं तुम्हें अपने हाथ से शराब पिलाऊँगा !

जंगू—शान्ती, तुम चुप क्यों हो बेटे । क्या बात है ? आओ, मेरे पास आ भी जाओ !

बली—बहादुर नौजवान ! जो पूरे ढाई घंटे के डाके में बिजली-सा दौड़ता रहा, जिसने पहुँचते ही उस घर के सारे बन्द किवाड़ तोड़ डाले...

शान्ती —(एकाएक तड़प उठता है) चुप रहो !

जंगू—बेटे, तुम्हें मैं अपना सिपहसालार बना रहा हूँ । मेरे पास आ जाओ । तुम्हारे दोनों हाथों में चोट लगी है । आओ, मैं उस पर शराब लगा दूँ ।

शान्ती —सरदार !...

जंगू—हाँ हाँ, बोलो !

शान्ती—नहीं । कुछ नहीं ।

जंगू—नहीं, माँगो । माँगो, जो माँगना चाहते हो, उधर शून्य में क्या देख रहे हो ?

शान्ती—रामनगर के उस बन्द घर को देख रहा हूँ—उम सादे बन्द किवाड़ों को, जिन्हें तुमने मेरे हाथों से तुड़वाया ।

जंगू—तुम चाहते जो थे । आओ । मेरे पास आ जाओ । तुम बेहब थक गये हो ।

शान्ती—(उसी तरह शून्य में देखता हुआ) सरदार ! तुमने मेरे पिता को बड़ी बेरहमी से उस खम्भे के साथ बाँध दिया, मुझे इसकी शिकायत नहीं, लेकिन तुमने उनके मुँह पर थूका क्यों ?

बली—(शराब के नशे में बेतुका ठहाका लगाते हुए) उस साले कंजूस के लिए अब इसे दर्द हो रहा है ।

शान्ती—(जगूमिंह की बात को सुनी-अनसुनी कर वही शून्य में देखते हुए) तुमने मेरी माँ को गन्दी गालियाँ क्यों दीं ?

जंगू—(नशे में थथलाते हुए) वह माँ नहीं डायन है...हम तुम्हारी तरह बात नहीं करते, काम करते हैं ।

(बीतल को मुँह से लगा लेता है ।)

शान्ती—(वही शून्य में देखता और दाँत पीसता हुआ ओंठों में) बेरहम, हत्यारे कहीं के !

बली—(बेहद नशे में) अरे नाराज क्यों हो रहे हो बेटे ?

जंगू—(पूर्ववत् थथलाते हुए) बेटा नाराज हो रहा है बलीसिंह । (शान्ती से) यह नाराज होने का वक्त नहीं, दुःख होने का वक्त है । आओ नाराजगी छोड़ो । अपनी बहादुरी का इनाम लो ।

शान्ती—(उसी ग्वर में) तुम सेठ शकरदयाल पर डाका डालने गये

ये, पर तुमने चार खून क्यों किये ? दौलत के साथ जानें क्यों लीं ?

जंगू—(ठहाका मार कर) हम डाकू हैं, चोर नहीं, जो खून करने से झिझकें । फिर खून तो तीन हुए । क्यों बलीसिंह ?

(बलीसिंह धुत्त लेटा है । जवाब नहीं देता ।)

जंगू—(उसे पाँव से ठोकर देकर) धुत्त हो गये ! और कहता था मैं पूरी बोतल पी सकता हूँ । साला झुट्टा !

शान्ती—चोया खून उस कुत्ते का हुआ जो पहुँचते ही भूँक कर दौड़ा था ।

बली—(सहसा उठकर शराबी ठहाका लगाता है) कुत्ते का खून ! हा...हा...हा ।

[जंगूसिंह उसे बाहों से पकड़ लेता है और दोनों मिलकर 'कुत्ते का खून' हा...हा...हा करते हुए ठहाके पर ठहाका लगाते हैं और धुत्त हो जाते हैं ।]

शान्ती—(अजीब पीड़ा और कटुता से) उस कुत्ते को मैंने पाला था । उसका नाम मोती था । जरा-सा पिल्ला था, उसे मैं लाया था । क्यों मारा उस निर्दोष कुत्ते को ? (क्रोध से उन धुत्त पड़े डाकुओं को देखता है) जवाब दो, नहीं तुम भी कुत्ते की मौत मारे जाओगे ।

बली—(गहरे नशे में) कुत्ते, हम सचमुच तुम्हारे कुत्ते हैं ...तुम आज से मालिक हो, बादशाह हो ।

जंगू—तुम सरदार बनने योग्य हो । आओ सरदार ! आओ बादशाह ! हमें आज अपने हाथ से पिलाओ, हमें इनाम दो । हमने तुम्हारे बाप को उसकी कंजूसी का मजा चखाया । तुम हमें इनाम दो । यह दौलत तुम्हीं बाँटो ।

शान्ती—मैं बाटूँ ? अपने पिता की वह दौलत उन हत्यारों में बाटूँ जो

उसने कौड़ी-कौड़ी कर जोड़ी। जो उसके सारे जन्म की कमाई थी।... यह सब मैं करूँ जो उसका बेटा हूँ, जिसे उसने जन्म दिया है। जंगूसिंह ! हत्यारे ! यह सब तेरे कारण हुआ। न तू मुझे चुराकर लाता, न मैं अपना ही घर लूटने वाला बनता ! तुम्हीं ने बेटे को बाप के घर में पराया बना दिया। डाकू बना दिया। (सहसा पलट कर जंगू में) तुमने उसका बेटा छीना, दौलत छीनी और उस गरीब की आबरू मिट्टी में मिला दी !... क्यों ? जवाब दो जंगूसिंह (उसको उठाकर भकभोरता है) जवाब दो ! नहीं देते।...

[जंगूसिंह शराब के नशे में बड़बड़ाता है। शान्ती को मारने के लिए हाथ उठाता है, पर शान्ती के एक ही धक्के से नेपथ्य में लड़खड़ाता जा गिरता है।]

शान्ती बलीसिंह की ओर मुड़ता है और उसे उठाकर भकभोरता है।]

शान्ती—और तुमने बलीसिंह, उस कुत्ते को क्यों मारा ? क्यों मारा ? जवाब दो।...

[बलीसिंह बड़बड़ाता है, पर शान्ती के धक्के से जंगूसिंह के बराबर जा गिरता है।]

शान्ती परे हटकर निशाना साधता है :]

शान्ती—तुमने मेरे कुत्ते को मारा बलीसिंह, मैं तुम्हें कुत्ते की मौत मारता हूँ। (बन्दूक दाग देता है) और तुमने जंगूसिंह, मेरे बाप के मुँह पर थूका, मैं तुम्हारे नाम पर थूकता हूँ। (बन्दूक दाग देता है। फिर उठकर उन्मादियों-सा बन्दूक फेंकता है) मर गये दोनों ! अपने दरङ को प्राप्त हुए। लेकिन मैं...मैं...मेरा दरङ क्या है ? मुझे कौन दरङ

देगा ? मुझे...कौन दण्ड देगा ? (बढ़कर बन्दूक उठा लेता है) दण्ड तो मुझे भी मिलना चाहिए ।

[सहसा प्रकाश मन्द होकर बुझ जाता है । क्षण भर बाद जब प्रकाश लौटता है तो बलीसिंह के बरामदे का वही बन्द दरवाजा सामने है । दायीं ओर से लड़खड़ाता हुआ शान्ती आता है और उसी बन्द दरवाजे से सिर टकराकर खड़ा हो जाता है । शरीर पर कहीं-कहीं ताजे खून के धब्बे हैं और बन्दूक सम्हाले से भी नहीं सम्भल रही है ।]

शान्ती—(टूटते स्वर में) कल्ली, दरवाजा खोलो । ओ कल्ली !

कल्ली—(भीतर से) आयी । चिराग जला रही हूँ ।

शान्ती—नहीं । चिराग न लाओ । मैं कोई बाहर का आदमी नहीं हूँ ।

[दरवाजा खुलता है, कल्ली जैसे ही चिराग लिये दीख पड़ती है, शान्ती चिराग को मुँह से बुझा देता है । वह फिर जलाती है वह फिर बुझा देता है ।]

कल्ली—(भुँभला कर) यह क्यों ? चिराग क्यों बुझा देते हो ? बिना रोशनी के तुम भीतर नहीं जा सकते ।

शान्ती—मैं भीतर नहीं जाऊंगा (कल्ली को दरवाजे से बाहर खींच लेता है) आओ चलो । यह लो मेरी बन्दूक । चलो कहीं फेंक आओ इसे ।

कल्ली -- (डरकर) हाय ! यह बन्दूक खून से डूबी है । तुम्हारे हाथ भी घायल हैं ।

शान्ती - फेंक दो इसे ।

(स्वयं फेंकता है ।)

कल्ली—(निकट आकर) यह क्या ? तुम्हें तो गोली लग गयी है । अच्छा हुआ । मैं यही चाहती थी । वे दोनों मर गये न ?

(शान्ती अपने को याम कर बैठ जाता है ।)

कल्ली—(पीड़ा से) तुम्हें मेरे बाबू ने तो नहीं मारा ? (रुककर) बलीसिंह ने गोली चलायी होगी तुम पर । (बढ़कर बन्दूक उठा लेती है) बोलो कहाँ हैं वे ? बताओ मुझे ।

शान्ती—(आधा लेट गया है) बता दूँ ।.....मैंने दोनों का खून कर दिया ।

कल्ली—मेरे बाबू को मार दिया । हत्यारे, जिसने तुम्हें इतने दिन प्यार से खिलाया । मारने के बदले तुम्हें छोड़ दिया, उसे मार दिया तुमने, तुम ..

(बन्दूक साधने लगती है)

शान्ती—बन्दूक में एक कारतूस है । चलाओ गोली । (कराह कर लेट जाता है) चलाओ, जल्दी । (उठता हुआ) चलाओ, मैं आत्महत्या के पाप से बच जाऊँगा ।

(कल्ली रो पड़ती है और शान्ती को सम्हालने को दौड़ती है ।)

शान्ती—मुझे पता था, तभी मैंने खुद ही बदला ले लिया (रुककर) कल्ली, अब मैं अपने घर जाना चाहता हूँ । मुझे ले चल । तू मेरी बुआ है न ? (बेहोश सोने लगता है) तब मैं अकेले घर गया था, आज मैं तेरे संग चलूँगा । उठा मुझे । देख आज मेरे घर का दरवाजा बन्द नहीं । देख वह खुल रहा है । मेरे लिए खुल रहा है ।

(धीरे-धीरे प्रकाश बुझने लगता है और उसी पर पर्दा गिरता है ।)

आवाज का नीलाम

(डा० धर्मवीर भारती)

डा० धर्मवीर भारती हिन्दी के नवीन एकांकीकारों में विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। उपन्यासकार, कवि तथा कहानीकार के रूप में साहित्य के लिए उनका सुन्दर योगदान है। व्यंग्य की रचना करने में उन्हें सफलता प्राप्त है। डा० भारती ने अपने एकांकियों के लिए अत्यन्त साधारण प्रतीत होने वाली स्वाभाविक, तथा सहज घटनाओं को ग्रहण किया है। इन्हीं सहज घटनाओं की नींव पर स्वाभाविक, सरल तथा प्रभावशाली कथोपकथन के माध्यम से उन्होंने सुन्दर रचनाएं प्रस्तुत की हैं। भारतीजी अन्तर्द्वन्द्व तथा बहिर्द्वन्द्व के चित्रण में बड़े कुशल हैं। मनोवैज्ञानिक तथ्यों एवं सत्यों को लेकर उन्होंने 'आवाज का नीलाम' में रोचक वातावरण प्रस्तुत किया है। इस एकांकी में एक निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति की मनोभावनाओं, संघर्षों तथा विवशताओं का अच्छा चित्रण किया है। स्वाभाविकता के साथ जीवन के चित्रों को स्पष्ट करने में भारतीजी को विशेष सफलता मिली है।

भारतीजी की एकांकियों में भाषा सजीव तथा पात्रानुकूल होती है।

पात्र

दिबाकर — एक पत्रकार

बाजोरिया — एक सेठ

घटना-काल : १९४७ में स्वतन्त्रता मिलने के बाद

आवाज का नीलाम

['आवाज' सम्पादक दिवाकर का कमरा । एक तरफ एक तख्त । बड़ी-सी मेज पर अखबार, कागज, सोख्ता, पिन-कुशन, ऐश-ट्रे, टेबल-कैलेंडर वगैरह बहुत अस्तव्यस्त हालत में । कागज बिखरे हैं, पेपर-बेट ऐश-ट्रे पर रक्खा है, पिन-कुशन खाली है, पिन मेज पर पड़ी हैं, सिगरेट की राख पिन-कुशन के पास इकट्ठा है । बगल में एक तिपाई पर टेलीफोन रक्खा है ।

मेज के पीछे दीवार पर सुभाष बोस का बहुत भव्य चित्र लगा है, जो गद और मैल से धुंधला पड़ गया है । तसबीर के नीचे ही दीवार में साप्ताहिक 'आवाज' की फाइल टंगी है । एक दूसरी कील पर दिवाकर का कोट ।

मेज पर पैर फैलाये हुए दिवाकर अपनी कुर्सी पर बैठा है । मैला पेंट, कैभीज के बटन खुले हुए, सिगरेट ऐश-ट्रे के सहारे रक्खी हुई सुलग रही है । बाल बिखरे हुए, कालर अस्तव्यस्त, सिर कुर्सी की पीठ पर टिक हुआ, आँखें छत पर टिकी हुई, सूनी-सूनी विचित्र-सी मुद्रा । सामने ही एक छोटा-सा जापानी ट्वाय-पियानो रक्खा है जिसे वह अपने फाऊंटेनपेन से टुनटुना रहा है । लम्बी-लम्बी गहरी साँसें, उचटा-उचटा हुआ-सा अमंगल वातावरण । सहसा टेलीफोन की घंटी बज उठती है । वह चौंका हाथ में उठा लेता है :]

दिवाकर—हलो.....कौन, बाजोरिया जी.....हाँ यहीं हूँ ।... नहीं अस्पताल नहीं गया, आपरेशन तो सुबह हुआ था.....जी, जब मैं आया तब तो वाइफ को नौद आ गयी थी.. हाँ आज भर खतरा है...

देखें क्या होता है...हाँ, आप आइए...हाँ, हाँ, कोई बात नहीं...अच्छा अच्छा...मैं यहीं हूँ, बड़ी कृपा। (टेलीफोन रख देता है, दाँत पीसकर टेलीफोन की ओर देखता हुआ) कृपा ! बेईमान, कमीना, मैं खूब समझता हूँ तुम्हारी कृपा। आज १० साल से जब मैंने अपनी एक-एक हड्डी जला कर अखबार निकाला; सरकार से लड़ा, सेठों से लड़ा, जमानते दीं, घर बिक गया, 'बीबी' सूखकर कंकाल हो गयी, तब किसी ने दया नहीं दिखायी। मैंने किसी के सामने सिर झुकाना ही नहीं सीखा था। आज जब अखबार बेच रहा हूँ तो दिन में तीन-तीन मर्तबा टेलीफोन से पूछा जाता है। कितनी चिन्ता है सेठ बाजोरिया को ! पाँच मिनट में आ रहे हैं, (गहरी साँस लेकर) पाँच मिनट ! (पेन से पियानो के पर्दे भंकारता है और गिनता जाता है—) एक...दो...तीन...चार...पाँच मिनट (उठकर दोवार पर से 'आवाज' की फाइल उतारता है। उसे बच्चों की तरह गोद में लेकर टहलता है) बस पाँच-दस मिनट और ! उसके बाद तुम मेरे नहीं रहोगे। मैं दस्तखत कर दूँगा और तुम बिक जाओगे। कितनी साध से मैंने तुम्हें निकाला था, कितनी लगन से, कितनी मुसीबतें झेलकर तुम्हें चलाया था। याद है तुम्हें ! जब तुम्हारा विशेषांक निकल रहा था और शीला सीढ़ी पर से गिर पड़ी थी, लेकिन मैं उसके पास नहीं था। याद है जब शीला की दवा के रुपये से मैंने सत्तार-प्रेस वाला टाइप खरीद लिया था। मैं तुम्हारे लिए सब कुछ भूल गया था, अपने को, अपनी फूलों जैसी बच्ची को, अपनी शीला को, महज इसलिए कि तुम मेरी आत्मा की आवाज बन सको, मेरी नंगी-भूखी जनता की आवाज बन सको। सत्य की आवाज बन सको। लेकिन नहीं..अब तुम बाजोरिया की आवाज बनोगे। (आवेश से) तुम्हारा नीलाम होगा। (नीलाम करने वालों की-सी आवाज में) आवाज, आवाज, जनता की आवाज, आत्मा की आवाज, सच्चाई की आवाज। नीलामी बोली ६ आना, साढ़े ६ आना, साढ़े ६ आना एक.....साढ़े ६ आना दो—(पियानो पर

ठुनकी मारता है) साढ़े ६ आना तीन ! (कुर्सी पर धम्म से बैठ जाता है, गिर-सा पड़ता है । दो क्षण की खामोशी । फिर एक अजीब-सी हंसी, लुटी-लुटी हुई-सी...सहसा फोन की घंटी बजती है । साथ ही बाहर मोटर के आने की, हार्न की और मोटर का दरवाजा बंद होने की आवाज । वह फोन उठाता है) हलो...मैं हूँ दिवाकर, कहिये...हां...हां, अच्छा शीन्ना जाग गयी?...मुझे बुला रही है...ठीक, मैं अभी आया...हालत ठीक नहीं है?...कोई खतरा नहीं । तब ठीक है ।...अच्छा, कोई बात हो तब फोन करना... ..

[इसी बीच में सेठ बाजोरिया आते हैं । खदरधारी, बहुत स्थूलकाय नहीं । चेहरे पर शालीनता । आते ही पूछते हैं, 'कहिए मिस्टर दिवाकर !' फिर दिवाकर को फोन करते हुए देखकर 'ओह' कहकर रुक जाते हैं, दिवाकर के संकेत करने पर बैठ जाते हैं ।]

बाजोरिया—(दिवाकर के फोन कर चुकने पर) क्या हाल है वाइफ का ?

[दिवाकर एक अजीब-से तीखे गुस्से और नपुंसक लाचारी से उसकी ओर देखता है, फिर एक अजीब-सी हंसी-हँसकर बैठ जाता है । कुछ जवाब नहीं देता । सिर झुकाकर नैन् जाता है और पेन से पियानो को भंकारने लग जाता है ।]

बाजोरिया—(और आगे कुर्सी खिसकाकर, चेहरे पर बहुत आत्मीयता लाकर, स्वर में बहुत सहानुभूति भरकर) क्या बात है दिवाकर जी ? समर्थिंग सीरियस ?

दिवाकर—कोई बात नहीं है सेठ जी ! (गहरी सांस लेकर) बात क्या होती । मेरी कुछ अजब-सी आदत है । जब मन बहुत परेशान होता है तो यह पियानो बजाने लगता हूँ । जाने क्यों...लेकिन...आप सोचते होंगे...

बाजोरिया—(कुछ मुस्कराकर) नहीं, नहीं, नर्वस-टेन्शन में अक्सर ऐसा होता है। लेकिन यह बच्चों का पियानो ?

(हंसता है, दिवाकर भी हंसता है ।)

दिवाकर—(पियानो हटाकर) क्या बताऊँ ? अखबार की दुनिया में रोज खबरें आती हैं। हड़तालों के नारे, लड़ाइयों का शोरगुल, मेनाग्रों की परेडें; जंगी जहाजों का घर्षाटा, लेकिन मुझे सब इतने बेमानी। इतने खोखले लगते हैं जितने इस बचकाने खिलौने के स्वर। लेकिन कभी-कभी लगता है, इन्हीं ध्वंस और विनाश की आवाजों में कहीं नये इंसान की आवाज का भी निर्माण हो रहा है। मैंने सोचा उस आवाज को जिन्दा रखने के लिए, उसे ऊपर लाने के लिए मैं अपनी हस्ती को बिटा दूँगा, वही आवाज मेरी जिन्दगी होगी। इसलिए

बाजोरिया—शायद इसीलिए आपने अपने अखबार का नाम 'आवाज' रखा था।

दिवाकर—जी हाँ ! और इस आवाज के लिए अपने को दबाद कर दिया था, लेकिन जनता नये इंसान की आवाज नहीं सुनना चाहती। उसे सच्चाई की आवाज नहीं चाहिये। उसे चाहिये शोख कवर, भड़कीले चित्र, रंग-बिरंगे विशेषांक...वह सब जो उसे सेठ बाजोरिया के अखबार में मिलता है।

बाजोरिया—देखिए ! यह पर्सनल-रिमार्क आपको शोभा नहीं देता दिवाकर जी, आप मुझे बिल्कुल गलत समझ रहे हैं। मेरा कतई यह इरादा नहीं कि मैं जनता को गुमराह करूँ। बात यह है दिवाकर जी कि मुझे साहित्य और पत्रकारिता से कुछ इतना लगाव है कि दिन-रात मैं सोचता हूँ कि हमारे यहाँ भी अमरीका की तरह सजे-सजाये अखबार निकलें, सस्ते से सस्ते, सुन्दर-से-सुन्दर। ज्यादा-से-ज्यादा जनता उन्हें पढ़े। उसका सांस्कृतिक स्तर ऊँचा हो।

दिवाकर—सांस्कृतिक स्तर ऊंचा हो ? (व्यंग्य से हंसकर) इधर तमाम लोगों को सांस्कृतिक स्तर सुधारने की बीमारी लगी है। कोई 'टाइम्स' खरीद रहा है, तो कोई 'लाइमलाइट' ? आप...

बाजोरिया—(बात काटकर) मैं भी 'आवाज' खरीदकर वही करना चाहता हूँ; यही मतलब है न आपका ? (कड़े स्वर से) मिस्टर दिवाकर ! दुनिया भी कितनी स्वार्थी, कितनी एहसान-फरामोश होती है। (उठकर टहलने लगता है) आपको जरूरत थी, आपने सन्देशा कहलाया था, आप इस वक्त मदद चाहते थे। और जब मैं 'आवाज' के शेयर खरीदने के लिए राजी हो गया तो आप इस तरह चोटें कर रहे हैं। (मुड़कर, खड़े होकर) शायद आप समझ नहीं रहे हैं कि आप अपने पैरों कुल्हाड़ी मार रहे हैं।

दिवाकर—(सुस्त पड़कर, पियानो पर सिर रखकर) भूल गया था मैं। गरजमन्द मैं हूँ, आप तो ग्राहक हैं। आपके तो चार बात...

बाजोरिया—(मेज पर झुककर बड़े मुलायम स्वर में) नहीं-नहीं, मेरा यह मतलब ...

दिवाकर—नहीं, मैं समझता हूँ। महीने भर से मेरी पत्नी की बीमारी पर आपने पानी की तरह रुपया बहाया है ...

बाजोरिया—(कुर्सी पर बैठकर) छी-छी: दिवाकर जी ! ऐसी बातें कहकर जलील न कीजिए। (बहुत स्नेह के साथ उसका हाथ अपने हाथ में लेकर) यह मैंने आप पर अहसान नहीं किया है। आपने अपनी जिन्दगी में जितना त्याग किया है, जितनी साधना की है, उसके लिए हमारे दिल में कितनी श्रद्धा है, यह आप समझ भी नहीं सकते।

दिवाकर—(पियानो टुनकारते हुए) अच्छा है मैं न समझ सकूँ, बाजोरिया जी। अब साधना और तपस्या के दिन भी तो नहीं रह गये।

अब कलम की शान और विचारक की आजादी का भी तो कोई अर्थ नहीं रहा । अब तो अगर मैं आपके पत्र में हूँ तो आपका ढोल बजाऊँ, उसके पत्र में हूँ तो....

बाजोरिया—(थोड़ा अप्रतिभ हो जाता है) मैं और लोगों की बात नहीं जानता, लेकिन जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, कम-से-कम आपसे मैं इस तरह की बात सुनने की उम्मीद नहीं करता था । पाँच अखबार हैं मेरे । क्या आप बता सकते हैं कि मैंने किसी के सम्पादक पर कभी कोई प्रतिबन्ध लगाया है ?

दिवाकर—(ठंडे फौलाद के से स्वर में) बाजोरिया जी, किसी आदमी का सबसे बड़ा गुनाह यह है कि वह दूसरे आदमी को अपने बारे में सच बोलने के लिए मजबूर कर दे ।

बाजोरिया—(भौह सिकोड़कर) क्या मतलब ?

दिवाकर—क्या मतलब...(तैश से) क्या आप कह सकते हैं कि आपने प्रतिबन्ध नहीं लगाया है ? चैटर्जी ने उस दिन गृह-मन्त्री के वक्तव्य पर टिप्पणी लिखी थी । उस पर किसने चैटर्जी को कमरे में बुलाकर डाँटा था ?

बाजोरिया—(तैश में मेज पर हाथ पटककर) यह गलत बात है ।

दिवाकर—यह सही बात है । आप जानते हैं, जब चैटर्जी को ६० रुपये मिलते थे तब वह सम्पादकीय लिखता था, आज जब आप उसे ढाई सौ दे रहे हैं तब वह डिक्टेशन लिखता है । आपका डिक्टेशन, जिसने अपनी जिन्दगी में सिवा बहीखाते के कुछ भी न लिखा होगा....

बाजोरिया—लेकिन....

दिवाकर—लेकिन क्या ? आप मालिक हैं, आप उसे डाँट सकते हैं, उसे जिसके बाल अखबार नवीसी में सफेद हो चुके हैं ।

बाजोरिया—(दोनों मुट्ठियाँ बाँधकर, बड़ी खीज से) मुझे अफसोस है मिस्टर दिवाकर कि आप भी अधकचरे साम्यवादियों की तरह बातें करने लगे हैं। हर चीज को एक ही पहलू से आप क्यों देखते हैं ? अगर मैंने चैटर्जी को डाँटा भी तो उसमें कोई पूँजीवादी नीति तो नहीं थी।

दिवाकर—(बड़े तीखे व्यंग्य से) नहीं जी, उसमें गांधीवादी अध्यात्म था।

बाजोरिया—दिवाकर जी, (उठकर टहलने लगता है) उसमें गांधीवादी अध्यात्म नहीं, लेकिन कम-से-कम वैयक्तिक सम्बन्धों की बात तो जरूर है। गृह-मंत्री मेरे मित्र हैं। क्या आप चाहेंगे कि आपके पत्र में आपके मित्रों की बुराई निकले ?

दिवाकर—ओपफोह ! आज गृह-मंत्री आपके मित्र हैं...लेकिन सन् ४२ में गृह-मंत्री आपके मित्र नहीं थे, जब पुलिस उन्हें हथकड़ियाँ पहनाकर आपके दरवाजे से ले गयी थी ! उस दिन आप उनसे दौड़कर गले नहीं मिले थे....उस दिन तो आप मिलिटरी के लिए ठीके ले रहे थे और आपके अखबार अंग्रेजी सरकार का विज्ञापन छाप रहे थे कि कांग्रेस वाले गुंडे हैं। कम-से-कम चैटर्जी ने गृह-मंत्री को गुंडा तो नहीं लिखा था।

बाजोरिया—(टहलते-टहलते) चैटर्जी की बात जाने दीजिए दिवाकर जी, उसके साथ सैकड़ों बातें हैं। असलियत समझना दूसरी बात है, व्यंग्य करना दूसरी बात। अगर आपका कोई अखबार होता....

दिवाकर—गोया यह आपका अखबार है !

(टेलीफोन की घंटी बोलती है।)

बाजोरिया—ओह, माफ कीजिएगा; मैं भूल गया था।

दिवाकर—नहीं नहीं, भूल मैं गया था बाजोरिया जी । (टेलीफोन की घंटी) मैंने आपको बुलाया था कि आज अखबार बेच ही दूँगा । लेकिन नहीं, भीख माँगकर अखबार निकालूँगा, फर्नीचर बेचकर अखबार निकालूँगा, अपने खून से छापूँगा, लेकिन आपके हाथ नहीं बेचूँगा । (टेलीफोन की घंटी, तैश में रिसीवर उठाकर फिर पटक देता है) नहीं बेचूँगा । मैं आपका रुपया एक-एक पाई चुका दूँगा... (फिर टेलीफोन की घंटी)

बाजोरिया—(बात काटकर) दिवाकर जी, आप मुझे गलत समझ रहे हैं ।

दिवाकर—मैं खूब समझने लगा हूँ । आप लोगों को ! (फिर टेलीफोन की लम्बी रिंग, भल्लाकर उठाता है । हाथ में ठोकर लगकर पियानों गिर जाता है) उफ, ये भी कम्बख्त आफत है । (जोर में भल्लाकर) जी हाँ...जी हाँ...कह तो दिया, जी हाँ... (कड़वे स्वर से) क्या ?.... (सहसा मुखमुद्रा एकदम बदल जाती है) नाड़ी डूब रही है... (बहुत भयभीत स्वर में) बहुत खतरा है... (व्यग्र स्वर में) कं फायल लेता आऊँ...तीन इन्जेक्शन ? मैं अभी लेकर आया... किसी तरह बचाइए उसे डाक्टर साहब...सुनिए, सुनिए... (निराश होकर फोन रख देता है—कुछ सोचते हुए) तीन फायल...उन्तालीस रुपया और एक सौ पचीस हु...आ...एक सौ चौवन...नहीं एक सौ चौंसठ ।

बाजोरिया—(पास आकर) कैसी हालत है वाइफ की दिवाकर जी ?

दिवाकर—(बिना सुने हुए, उसी धुन में) मेरे पास कुल है (खड़े होकर, जब मैं हाथ डालकर) अरे कहाँ गये रुपये ?

[सारी मेज छान डालता है, फिर घड़ी देखता है, फिर ड्रायर में देखता है । फिर बिल्कुल स्तब्ध-सा खड़ा हो जाता है ।]

बाजोरिया—आप परेशान क्यों हैं ।

[जेब से नोटों का बंडल निकालता है, दिवाकर उधर ध्यान ही नहीं देता, स्तब्ध खड़ा है, फिर दाँत पीसकर माथा ठोंकता है ।]

बाजोरिया—दिवाकर जी आप क्या कर रहे हैं । लीजिए ये हैं रुपये, बाहर कार खड़ी है । (कन्धे पर हाथ रखकर) चलिए, जल्दी अस्पताल चलें ।

[दिवाकर बिल्कुल पत्थर की तरह खड़ा रहता है । जैसे वह संज्ञा-शून्य हो, चेतनाहृत हो, फिर मुड़कर कोट को उतारकर पहनता है, फिर सेठ जी की ओर बड़ी कातर निगाहों से देखता हुआ, जैसे अभी रो देगा...]

दिवाकर—हालत... .. उसकी हालत ठीक नहीं है सेठ जी...

बाजोरिया (घड़ी देखकर) जल्दी कीजिये ।

दिवाकर—(पास आकर, बहुत पास आकर, सेठ जी के दोनों कन्धों पर हाथ रखकर) आप देवता हैं, आप देवता हैं सेठ जी ! मैं पागल हूँ, मैं पागल हो गया था । अखबार आपका है । पहले मैं कागजों पर दस्तखत कर दूँ ।

बाजोरिया—छिः, आप कैसी बात करते हैं । मैं अखबार नहीं...

दिवाकर—(बात काटकर, चीखकर) मैं तो अखबार बेचूँगा । आपने कितना किया है मेरे लिए । आपने शीला की जान बचायी है और मैं आप पर अविश्वास करता हूँ । (चीखते और दाँत पीसते हुए) मैं अहसान फरामोश नहीं हूँ, लाइए, कागज लाइए ।

[बाजोरिया कागज निकालकर देता है । दिवाकर बैठ जाता है । कागज खोलकर देखता है, फिर दस्तखत करता है । आवेश कुछ शांत-

सा पड़ गया है । एक निगह उठाकर बाजोरिया को ओर देखता है, फिर बड़ी दर्द-भरी मुस्कराहट ...।]

दिवाकर—(हाथ उस स्थान पर बढ़ाते हुए जहाँ पियानो रक्खा था) दूसरा कागज ? (पेन में टुन्कारता है, पर पियानो न पाकर कहता है—) अरे ! मेरा पियानो कहाँ गया ? बाजोरिया उधर इशारा करता है, झुककर नीचे देखता है, फिर हंसकर) डेम इट, कहाँ है दूसरा कागज ?

[पैर से पियानो को ठुकरा देता है । बाजोरिया दूसरा कागज देता है, दिवाकर दस्तखत करता है । फोन की घंटी बजती है । दिवाकर दस्तखत करके कागज फिर पढ़ता है । फोन की घंटी फिर बजती है । वह कागज मेज पर रख देता है । रिसीवर उठाता है । बाजोरिया कागज उठाकर अपने हाथ में लेकर पढ़ने लगता है—]

दिवाकर—(फोन पर) हलो...हाँ हाँ, कहिए न...मैं ही हूँ...माई गॉड ! (टेलीफोन पटककर उछल पड़ता है । बहुत ही उल्लास से—) बाजोरिया ! बाजोरिया जी, कितना दयावान है ईश्वर ! कैसे मौके पर बांह पकड़ता है । मेरी मुसीबतें खत्म हो गयीं दोस्त ! मैं अब 'आवाज' नहीं बेचूँगा । (दाँत पीसकर) माई वाइफ इज डेड !

बाजोरिया—क्या कह रहे हैं आप !

दिवाकर—(ऊँचे गले ले) मैं सच कह रहा हूँ, बाजोरिया जी । अभी उसका हार्ट फेल हो गया । (गहरी साँस लेकर) अब 'आवाज' बेचने की जरूरत नहीं ।

बाजोरिया—आप पागल हो गये हैं ? वह तो आप बेच चुके, बेनामा मेरे पास है । चलिए जल्दी अस्पताल ।

दिवाकर—(भट से मुड़कर मेज की ओर देखता है) कहाँ गये कागजात ? लाओ उन्हें । मैं नहीं बेचूँगा । शीला की कसम, मैं नहीं बेचूँगा ।

बाजोरिया—(उन्हें जेब में रखकर) आप पागल हो गये हैं ।

दिवाकर—(चीखकर) हाँ । पागल हो गया हूँ । (पियानों जैसे मारने के लिए उठाकर) सीधे से दे दो वरना...

[खींचकर फेंकता है । बाजोरिया भयभीत होकर पीछे उछल जाता है, पियानों अलग जा गिरता है ।]

बाजोरिया—आप पागल...(दरवाजे की ओर भागता है, दिवाकर भी—)

दिवाकर—(और चीखकर) हाँ मैं पागल हूँ (भागता है, चीखता हुआ) मेरे कागज दे दो, मैं 'आवाज' नहीं बेचूँगा...

[नेपथ्य में मोटर के स्टार्ट होने और कार का दरवाजा बन्द होने की आवाज—]

(पर्दा गिरता है ।)

